शनि की दशा

लेखिका

श्रीमती काञ्चनमाला देवी

अनुवादक

पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४०

प्रथम बार] [मूल्य १।)

शनि की दशा

पहला परिच्छेद

वासन्ती

"क्यों रे वासन्ती, यह शीशे की कटोरी किसने तोड़ डाली ?"

घर के भीतर से एक ग्याहर वर्ष की बालिका ने बहुत ही मृदु स्वर से कहा--मैं तो नहीं जानती मामी।

बालिका की यह बात सुनते ही प्रश्न करनेवाली भूखी बाघिन की तरह तड़प उठी। कड़क कर उसने कहा--तू नहीं जानती तो और कौन जानता है रे चण्डालिन ! जो लोग पल्ले सिरे के बदमाश होते हैं वे ऐसे ही भोले बने बैठे रहते हैं, मानो कुछ जानते ही नहीं। बर्तन मलकर ले आई तू और तोड़ने गई मैं ?

"सच कहती हूँ मामी, मैं नहीं जानती। नन्हें बच्ची को दूध देने के लिए कटोरी लेने गया था। शायद उसी के हाथ से छूट पड़ी है।"

बालिका के मुँह की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि मेघ की तरह गरजती हुई मामी कहने लगी--जितना बड़ा तो मुँह नहीं है, उतनी बड़ी तेरी बात है। दया करके घर में जगह दे दी है, इसको तो समझती नहीं, ऊपर से मेरे बच्चे को अपराध लगाती है ! तू मर भी न गई कि सन्तोष हो जाता। आज तुझे घर से निकाल कर ही जल ग्रहण करूँगी। इतना तेरा मिजाज बढ़ गया है !

अकारण ही डाँट सहकर वासन्ती चुपचाप खड़ी रह गई। अपराधी जब बात का उत्तर नहीं देता तब किसी किसी का पारा और अधिक चढ़

जाता है। वासन्ती को उत्तर न देती देखकर यही दशा उसकी मामी की भी हुई। आँखें लाल करके कमर की साड़ी सकेलती हुई वह वासन्ती की ओर बढ़ी और कहने लगी——अब भी मैं सीधे से पूछ रही हूँ। सचसच बता दे। नहीं तो देखती हूँ कि आज तुझे घर में कौन रहने देता है?

मामी की भयङ्कर मूर्ति देखकर वासन्ती ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा——मैं तो कहती हूँ कि मैं नहीं जानती। परन्तु आप जब विश्वास ही नहीं करती हैं तब भला मैं क्या करूँ? कटोरी जब मैंने तोड़ी नहीं तब कैसे कह दूँ कि मैंने तोड़ी है?

अब तो जलती हुई अग्नि में घृत की आहुति पड़ गई। तेज़ी से पैर बढ़ाकर मामी ने वासन्ती के मुँह पर एक थप्पड़ मारा। अकस्मात् चोट खाकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसका मस्तक चौखट से टकरा गया। इससे ज़रा-सा कट गया और खून बहने लगा। असह्य यन्त्रणा के मारे उसके मुँह से निकल गया——हाय बाप रे!

वासन्ती की यह बात सुनकर क्रोध के मारे काँपते हुए स्वर में मामी ने कहा——क्या बाप को पुकारती है रे अभागिन! बाप को तो तू ने धरती पर गिरते ही खा लिया। थोड़े ही दिनों के बाद मा को भी खा लिया। इतने में भी पेट नहीं भरा तो अब हम लोगों को खाने आई है। इतनी बड़ी लड़की के ऐसे ऐसे गुण! इसके लक्षण देखकर शरीर जल जाता है। निकल जा मेरे घर से। अब यदि कभी घर के भीतर पैर रक्खा तो पीटते-पीटते खाल उधेड़ लूँगी। देखो न इस हरामज़ादी को! कटोरी तोड़ी है इसने, अपराध लगाती है दूसरे को। हट जा मेरे सामने से। अभी तक तू उठी नहीं? इस तरह की करतूत पर तेरी जो दुर्दशा न हो वही थोड़ी है!

"अभी सीधे से कहती हूँ, निकल जा नहीं तो आज मारते मारते मैं तेरे प्राण लेकर ही छोड़ूँगी," यह कह कर मामी ने वासन्ती का हाथ पकड़कर ज़ोर से खींचा, गला पकड़कर दरवाज़े के बाहर सड़क पर कर दिया, और स्वयं द्वार बन्द कर भीतर चली गई।

सावन का महीना था। आकाश मेघ से आच्छादित था। पानी की बूँदें टप टप करके गिर रही थीं। अँधेरा क्रमशः घना होकर चारों दिशाओं को ढँक रहा था। धूसर वर्ण की यवनिका संसार को अपने आवरण से छिपा रही थी। उसी अन्धकार से प्रायः समाच्छादित सड़क पर अकेली ही बैठी वासन्ती रो रही थी। उसके ललाट से उस समय भी रक्त की ज़रा-ज़रा-सी बूँदें चू रही थीं। बीच-बीच में वह अञ्चल के वस्त्र से चूता हुआ रक्त पोंछ लिया करती थी। गाँव से दूर शृगालों का झुंड अपनी हुआ-हुआ की ध्वनि से बस्ती की निस्तब्धता को भंग कर रहा था। भय से व्याकुल होकर बेचारी वासन्ती सोच रही थी कि ऐसे अँधेरे में मैं कहाँ जाऊँ? मामा तीन-चार दिन के लिए बाहर गये हैं। उन्हें छोड़कर और कौन ऐसा है जो आकर मुझे घर ले जायगा? मामी तो शायद भीतर पैर भी न रखने देंगी। इसी तरह की कितनी चिन्तायें उसके छोटे-से हृदय में चक्कर काट रही थीं।

बहुत थोड़ी ही अवस्था में माता-पिता के स्नेह से वञ्चित होकर वासन्ती को मामा के घर में आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। जब वह दस दिन की थी तभी उसके पिता इस संसार से बिदा हो गये थे। अपनी एक-मात्र कन्या तथा विधवा पत्नी के लिए न तो वे किसी प्रकार की सम्पत्ति छोड़ गये थे और न किसी का सहारा ही कर गये थे। अतएव भाई के घर में आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त वासन्ती की मा के लिए कोई दूसरा मार्ग ही नहीं था। परन्तु भौजाई का निष्ठुर तथा हृदयहीन व्यवहार अधिक समय तक सहन करना उसके भाग्य में नहीं बदा था। इसलिए उसकी अशान्त आत्मा शीघ्र ही शान्तिमय के चरणों के समीप चली गई।

माता की मृत्यु के समय वासन्ती केवल चार वर्ष की थी। माता-पिता की गोद से बिछुड़ी हुई इस बालिका का मामा ने बड़े ही यत्न से पालन-पोषण किया। उसके मामा हरिनाथ बाबू उसे बहुत ही प्यार करते थे, परन्तु मामी को वह फूटी आँखों भी नहीं सुहाती थी। जन्मकाल

से ही दुर्भाग्य की गोद में पालन-पोषण प्राप्त करनेवाली वह बालिका असाध्य साधना करके भी मामी का स्नेह आकर्षित करने में समर्थ नहीं हो सकी। बालिका होकर भी वह बहुत ही बुद्धिमती थी। उसने अपने दुर्भाग्य का अनुभव कर लिया था। यही कारण था कि वह सदा ही बहुत सावधान होकर रहा करती थी और लाख कष्ट होने पर भी कभी मुँह नहीं खोलती थी। परन्तु जितना ही वह सावधान होकर रहती थी, उतनी ही उसकी विपत्तियाँ बढ़ती जाती थीं। ग्यारह वर्ष की ही अवस्था में घर का सारा काम उसने अपने हाथ में ले लिया था। क्या छोटे, क्या बड़े, गृहस्थी के किसी भी काम में दूसरे को हाथ लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परन्तु इतने पर भी उसे सदा मामी की झिड़कियाँ ही सहनी पड़ती थीं। कभी भूल कर भी मामी शान्ति के साथ उससे बात नहीं करती थी

दरिद्र के घर में जन्म ग्रहण करने पर भी वासन्ती का रूप असाधारण था। उसके मस्तक के काले-काले बाल घुटने के नीचे तक लटक पड़ते थे। उसके शरीर का रंग चम्पे के फूल का-सा था। मुँह की सुन्दरता के सम्बन्ध में फिर कहना ही क्या था? उसे एकाएक देखकर भ्रम हो जाता था कि शायद यह कोई देवकन्या है और अपने आप ही उसके प्रति स्नेह का भाव उदित हो आता था। परन्तु इस प्रकार की अतुलित रूपराशि लेकर जन्म ग्रहण करने पर भी दुर्भाग्य के हाथ से वह छुटकारा नहीं पा सकी।

सन्ध्या का अन्धकार प्रगाढ़ हो जाने पर दत्त-बहू वसु के यहाँ से लौटकर घर जा रही थीं। साथ में उनका नौकर रामू था। वह लालटेन लेकर उनके पीछे-पीछे चल रहा था। दूर से ही उन्हें लालटेन के क्षीण आलोक में सफ़ेद वस्त्र से ढँकी हुई मनुष्य की एक मूर्त्ति दिखाई पड़ी। उसे देखकर पहले तो वे कुछ डरीं, परन्तु बाद को साहस करके आगे बढ़ीं। कुछ ही और आगे आने के बाद उन्होंने देखा कि एक दीवार के सहारे से खड़ी हुई कोई लड़की फूट-फूट कर रो रही है। दत्त-बहू की

अवस्था प्रायः ढल चली थी, और वृद्धता के प्रभाव से उनकी दृष्टि भी कुछ क्षीण हो गई थी। इससे वे पहले लड़की को पहचान न सकीं। धीरे-धीरे उसके समीप जाकर उन्होंने पूछा––तुम कौन हो भाई ?

दत्त-बहू का कण्ठ-स्वर सुनकर वासन्ती के रुदन का वेग और भी बढ़ गया। उन्होंने लालटेन लेकर उसके मुँह की ओर देखा तब वे वासन्ती को पहचान सकीं। उसके शरीर पर हाथ रखकर उन्होंने पूछा––क्यों रे वासन्ती, तू इतनी रात में यहाँ कैसे ?

बड़ी कठिनाई से अपने आपको सँभाल कर उसने कहा––मामी ने मुझे घर से निकाल दिया है।

दत्त-बहू वासन्ती की मामी का आचरण जानती थीं। माता-पिता से हीन बेचारी वासन्ती को यह बहुत ही निष्ठुरता के साथ दण्ड दिया करती है, यह बात भी उनसे छिपी नहीं थी। अतएव उसकी बात से वे ज़रा भी आश्चर्य-चकित नहीं हुईं। कुछ क्षण के लिए वे निस्तब्ध भर हो गईं। उन्होंने कहा––निकाल क्यों दिया है ? तुमने क्या किया था ?

वासन्ती ने कहा––मैंने तो कुछ नहीं किया था। नन्हें से एक कटोरी टूट गई है, परन्तु वे विश्वास नहीं करतीं। कहती हैं कि यह कटोरी तुम्हीं से टूटी है। इसी लिए उन्होंने मुझे मारकर निकाल दिया है। भला इतनी रात को मैं कहाँ जाऊँ नानी ? यह कहकर वासन्ती और भी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

दत्त-बहू ने समझा-बुझाकर वासन्ती को शान्त किया। उन्होंने कहा–तुम डरती किस बात के लिए हो बिटिया ? चलो, तुम मेरे घर चलो।

एकाएक दत्त-बहू की दृष्टि वासन्ती की साड़ी की ओर गई। उसे देखकर तो वे सन्नाटे में आ गईं। उन्होंने उत्कण्ठित भाव से कहा––यह क्या हुआ है ? तुम्हारे कपड़े में क्या लगा है ? इतना रक्त कहाँ से आया ? राम रे ! देखो न, साड़ी की साड़ी रक्त से भीग गई है ! छिः ! छिः ! वह क्या बिलकुल राक्षसी ही है ! ऐसी अँधेरी रात में

जब कि पानी बरस रहा है, जरा-सी लड़की को बाहर निकाल दिया, आप घर में आराम से सो रही हैं! चलो बिटिया, तुम मेरे घर चलो। कैसे लग गया है ? शायद उसी ने मारा है!

दत्त-बहू ने अपने अञ्चल से वासन्ती का रक्त पोंछते पोंछते पूछा--किस चीज़ से मारा है ? आँसुओं से रुँधे हुए स्वर से वासन्ती ने कहा--उन्होंने मारा नहीं बड़ी मामी। मैं स्वयं गिर पड़ी हूँ, इससे माथा फट कर रक्त बहने लगा है। मैं......अब......नहीं तो मामी और भी.........................

बीच में ही बात काट कर दत्त-बहू ने कहा--तो इतनी रात में तुम यहाँ अकेली ही पड़ी रहोगी ? यह कैसे हो सकता है ? तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम मेरे साथ चलो।

साथ जाने के लिए दत्त-बहू ने वासन्ती को तैयार कर लिया। उसे लेकर वे घर की ओर चलीं। मन ही मन वे वासन्ती की प्रशंसा करने लगीं। दत्त-बहू काफ़ी चतुर थीं। वे समझ गईं कि मारने से ही वासन्ती का माथा फट गया है, परन्तु इस बात को यह प्रकट नहीं करना चाहती। इतनी बड़ी लड़की की यह बुद्धिमत्ता देखकर वे अवाक् हो गईं।

वासन्ती के माता-पिता तो थे नहीं कि उसके लिए चिन्तित होते। इधर मामी को रात्रि के समय में उस अनाथिनी को खोजने की आवश्यकता ही नहीं मालूम पड़ी। स्वयं आराम से खा-पीकर वह पड़कर सो रही।

वासन्ती को साथ में लेकर दत्त-बहू घर के द्वार पर पहुँचीं। उन्होंने ऊँचे स्वर से पुकारा--विशू ! ज़रा सुन तो ! जल्दी से आना।

उनकी आवाज सुनते ही एक सुन्दर युवक घर के भीतर से निकल आया। उसने कहा--क्या बात है मा ?

पुत्र को सामने देखकर उन्होंने कहा--हुआ है मेरा सिर। देखो न, इस नन्हीं-सी लड़की को राक्षसिन ने एकदम से मार डाला है।

बेचारी का माथा फट गया है, जिससे रक्त बह रहा है। इसमें कोई दवा तो लगा दे।

यह बात कहते कहते वे भीतर की ओर जाने को ही थीं कि पीछे से किसी की आवाज सुनाई पड़ी। इससे उन्होंने मस्तक पर का कपड़ा जरा-सा खींच लिया और पुत्र को आगन्तुक से बातचीत करने का इशारा करके स्वयं बरामदे में हो गईं। क्षण भर में एक परिपक्व अवस्था के पुरुष को साथ लेकर वह आ खड़ा हुआ। आगन्तुक को देखकर दत्त-बहू ने अपना घूँघट और खींच लिया। उनका पुत्र माता की ओर अग्रसर होकर कहने लगा—ये सज्जन कहीं जा रहे हैं। परन्तु ऐसे पानी में रात के समय आगे जाना कठिन है, इसलिए कहते हैं कि मुझे जरा-सी जगह दे दीजिए।

गृहणी ने इशारे से पुत्र को अपनी स्वीकृति दे दी। तब आगे बढ़कर वृद्ध ने कहा—मा, तुम मुझसे लज्जा न करो। मैं शैशवकाल में ही मातृहीन हो गया हूँ। माता का स्नेह कैसा होता है, यह मैं नहीं जानता। आज से आप मेरी मा हैं।

इसके बाद उन्होंने उनके पुत्र की ओर इशारा करके कहा—यह लड़की कौन है? बिशू ने संक्षेप में उसका परिचय दिया। वासन्ती की अतुलित रूपराशि देखकर आगन्तुक ने मन ही मन कहा—लड़की है तो अच्छी।

दूसरा परिच्छेद

दुराशा

सिराजगंज के ज़मींदार राधामाधव बाबू का पुत्र सन्तोषकुमार अपने कलकत्तेवाले मकान में रहते और मेडिकल कालेज में पढ़ता था। कलकत्ते में अनादि बाबू नामक एक बैरिस्टर थे। उनका लड़का भी मेडिकल कालेज में पढ़ता था। उससे सन्तोषकुमार की बड़ी घनिष्ठता थी। कालेज से लौटते समय वह प्रायः अनादि बाबू के यहाँ जाया करता था। बात यह थी कि उनका लड़का अनिल सन्तोषकुमार को किसी प्रकार छोड़ता ही नहीं था। इससे उस परिवार के साथ उसकी घनिष्ठता क्रमशः बढ़ती जाती थी।

अनादि बाबू की स्त्री मनोरमा सन्तोषकुमार को पुत्र से भी अधिक प्यार किया करती थीं। उन्होंने अपने लड़के अनिल से सुना था कि सन्तोष की माता नहीं हैं। इसलिए उसके प्रति उनकी ममता और अधिक बढ़ गई थी। जिस दिन उन्हें यह बात मालूम हुई, उसी दिन मानो उन्होंने सन्तोष के मातृस्नेह के अभाव को दूर करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। सन्तोष भी उन्हें माता की ही तरह मानता था।

अनादि बाबू ने इतने समय में बहुत-सा धन एकत्र कर लिया था। परिवार में स्त्री, पुत्र तथा एक कन्या के अतिरिक्त और कोई नहीं था। उनकी कन्या सुषमा उस समय बेथून-कालेज में पढ़ रही थी। एक ही वर्ष में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा देनेवाली थी।

सुषमा माता-पिता की बड़े आदर की कन्या थी। वह जिस बात के लिए अड़ जाती थी, अनादि बाबू अपनी शक्ति भर उसे पूरा किये बिना नहीं रहते थे। इसी लिए कभी-कभी उनकी स्त्री कहा करती थी कि तुम लड़की का मिज़ाज आसमान पर चढ़ाये जा रहे हो।

स्त्री की यह बात सुनकर अनादि बाबू हँस दिया करते थे। वे कहा करते थे कि इसके लिए तुम चिन्ता मत करो। बड़ी होने पर क्या मेरी सुषमा ऐसी ही रहेगी? उस समय तुम देखोगी कि मेरी सुषमा कितनी सीधी-सादी और विनयशील हो गई है। इसी तरह सुषमा के सम्बन्ध में पति-पत्नी में प्रायः कहा-सुनी हुआ करती थी। कभी-कभी दिखाने के लिए थोड़ा-बहुत मान-अभिमान भी हो जाया करता था।

पहले-पहल सन्तोष जब इनके यहाँ खाने के लिए गया तब उसे बहुत झेंपना पड़ा था। कमरे के भीतर पैर रखने से पहले ही उसने जूता उतार दिया था। उसे ऐसा करते देखकर सुषमा हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई थी। बाद को जलपान की सामग्री समाप्त करके हाथ धोने के लिए जब वह कमरे से बाहर आकर खड़ा हुआ तब वह फिर खिलखिलाने लगी। उसने कहा---बाहर क्यों चले गये सन्तोष बाबू?

सन्तोषकुमार ने कहा---हाथ धोऊँगा।

यह सुनकर सुषमा और भी ज़ोर से हँसी। उसके हँसने की आवाज़ सुनकर अनादि बाबू ने कहा---क्या बात है सुषमा? इतना क्यों हँस रही है?

सुषमा ने कहा---देखिए न बाबू जी, हाथ धोने के लिए सन्तोष बाबू कमरे से बाहर जाकर खड़े हुए हैं।

तब अनादि बाबू ने कहा---बाहर क्यों चले गये हो भैया? लड़का कटोरे में जल रख तो गया है। यहीं हाथ धो न लो!

तब सन्तोष ने कहा---हमारी छुटपन से ही इस तरह की आदत हो गई है न। इससे जब कभी हाथ धोना होता है तब मैं असस्मात् बाहर निकल पड़ता हूँ।

एक दिन कालेज से लौटते समय अनिल सन्तोष को फिर पकड़ ले आया। जलपान आदि से निवृत्त होने पर अनिल ने कहा---चलो, ज़रा बिलियार्ड खेला जाय।

सन्तोष ने कहा––आज मुझे एक जगह जाना है भाई। आज मुझे खेलने का समय कहाँ है ?

उसके मुँह की ओर ताक कर अनिल ने कहा––किस समय ?

"छः बजे जाना होगा।"

"तब आओ, जरा-सा खेल लें। अभी तो बहुत समय है।"

अनिल सन्तोष को बिलियार्ड-रूम में खींच ले गया। वे दोनों ही खेलने के लिए बैठ गये। बड़ी देर की हार-जीत के बाद वे दोनों बड़े ध्यान से खेल रहे थे। इतने में सुषमा ने आकर कहा––भैया, तुम्हें बाबू जी बुला रहे हैं।

मुँह ऊपर किये बिना ही अनिल ने कहा––क्या काम है सुषमा ?

सुषमा ने कहा––यह तो मुझे नहीं मालूम है।

तब और कोई उपाय न देखकर अनिल उठने के लिए बाध्य हुआ। सुषमा की ओर देखकर उसने कहा––तो मेरी जगह पर तू ज़रा देर तक खेल, मैं सुन आऊँ। सुषमा इस पर सहमत हो गई। बड़ी देर के बाद अनिल जब लौट कर आया तब उसने देखा कि खेल प्रायः समाप्त हो आया है। इससे वह चुपचाप खड़े-खड़े देखने लगा। क्रमशः खेल समाप्त हो गया। इस बार सुषमा हार गई।

सुषमा को चिढ़ाने के लिए अनिल ने कहा––छिः! छिः! सुषमा, तू हार गई ?

अभिमान-मिश्रित स्वर में सुषमा ने कहा––तुम्हारे ही कारण तो मुझे इस तरह का अपमान सहन करना पड़ा है। यदि आरम्भ से ही मैं खेलती होती तो मैं कभी न हारती। खेल तो तुमने पहले से ही बिगाड़ रक्खा था! अच्छा, तुम ज़रा-सा ठहर जाओ, इस बार देखना मेरा खेल!

अनिल इस पर सहमत हो गया। फिर से सन्तोष और सुषमा दोनों ने खेलना आरम्भ किया। वे दोनों ही घूम-घूम कर खेल रहे थे। इस खेल का यह नियम ही है। इस बार सन्तोष अच्छी तरह खेल न सका। उससे

बराबर भूलें होने लगीं। बात यह थी कि सन्तोष की दृष्टि लगी थी एकाग्र भाव से सुषमा के मुखमण्डल पर। फिर भला खेल में उससे भूलें क्यों न होतीं? अन्त में वह हार गया। तब अनिल ने कहा---तू ठीक कहती थी सुषमा! मेरे ही कारण से तू उस बार हार गई थी।

सुषमा ने मुस्करा कर धीमे स्वर से कहा---देख तो लिया भैया तुमने। मैं क्या मिथ्या कह रही थी? यह कह कर वह हँसती हुई चली गई। सुषमा के दृष्टि-पथ से परे हो जाने पर उसकी ओर से मुँह फेर कर अनिल ने देखा तो सन्तोष का ध्यान उसी ओर जमा था। अनिल के इस ओर दृष्टि फेरते ही सन्तोष लज्जित हो उठा और नीचे की ओ देखने लगा।

ज़रा देर तक चुप रह कर अनिल ने कहा---आओ भाई सन्तोष, एक बार फिर खेला जाय।

सन्तोष ने कहा---नहीं भैया, मुझे क्षमा करो। आज अब खेलने को जी नहीं चाहता। बड़ी थकावट मालूम पड़ रही है।

अनिल ने मुस्करा कर कहा---अच्छा, तो चलो बाहर चलें। यहाँ बड़ी गर्मी मालूम पड़ रही है।

सन्तोष और अनिल दोनों ही कमरे से निकल कर बरामदे में आये। अनादि बाबू अपनी स्त्री तथा सुषमा के साथ वहीं बैठे थे। इन लोगों को देखते ही उन्होंने कहा---आओ भैया, यहीं बैठो।

दोनों ही मित्र बैठ गये। कुछ देर तक तरह-तरह की बात-चीत होती रही। अन्त में अनादि बाबू ने सन्तोष से पूछा---भैया, तुम्हारा तो अब एक ही साल का कोर्स बाक़ी है। कहाँ प्रैक्टिस करोगे, कुछ सोचा है?

सन्तोष ने मुँह नीचा किये हुए उत्तर दिया---अभी तो कुछ निश्चय नहीं किया। देखें पिता जी क्या कहते हैं!

अनादि बाबू ने कहा---यही ठीक है। उनकी जैसी आज्ञा हो, वैसा ही करना तुम्हारा धर्म है। परन्तु मैं त समझता हूँ कि गाँव पर ही प्रैक्टिस

करना तुम्हारे लिए अच्छा होगा। बात यह है कि शहर में अब डाक्टरों का कोई अभाव नहीं है। परन्तु हमा देहातों की अवस्था आज भी बहुत ही शोचनीय है। वहाँ तो कितने ही ग़रीब-दुखिया चिकित्सा न हो सकने के ही कारण मर जाया करते हैं। अतएव हम लोगों का यह पहला कर्त्तव्य है कि उनका यह अभाव दूर करें। परन्तु आज-कल लड़कों का ध्यान इस ओर नहीं जाता। बहुधा तो वे पिता, पितामह का घर छोड़कर शहर में भाग आना ही पसन्द करते हैं। ठीक कहता हूँ न ?

सन्तोष ने मृदु स्वर से कहा--जी हाँ, आपका कहना बिलकुल ठीक है। आज-कल सचमुच हम लोग शहर में ही रहना अधिक पसन्द करते हैं। परन्तु मेरे पिता जी को शहर बिलकुल ही पसन्द नहीं है। मैं जहाँ तक समझता हूँ, वे मुझसे सिराजगंज में ही प्रैक्टिस करने को कहेंगे।

एकाएक हाथ की घड़ी की ओर सन्तोष की दृष्टि गई। वह तुरन्त ही उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा--आज मुझे छः बजे एक जगह जाना था। परन्तु छः यहीं बज रहे हैं। इससे मैं इस समय आपसे आज्ञा लेना चाहता हूँ।

अनिल फाटक तक सन्तोष को पहुँचा आया। सुषमा की मास्टरानी आई थी, इसलिए इससे पहले ही वह पढ़ने चली गई थी। सन्तोष के चले जाने पर अनादि बाबू ने कहा--देखो, यदि दामाद बनाना हो तो सन्तोष ही-जैसा लड़का खोजना चाहिए। यह लड़का जैसा नम्र है, वैसा ही चरित्रवान् भी है, मानो हीरे का टुकड़ा है।

गृहिणी ने एक हल्की-सी आह भरकर कहा--क्या हमारे ऐसे भी भाग्य हो सकते हैं ? अनिल से सुना था कि उसके पिता कट्टर सनातनी हैं। यह बात यदि सच है तो भला वे हमारे घर की लड़की कैसे ग्रहण करेंगे ? यह तो हमारी नितान्त ही दुराशा है। परन्तु इस लड़के को जब से देखा है तब से मुझे ऐसी कुछ ममता होगई है कि तुमसे क्या कहूँ। आह ! बेचारे की मा नहीं है।

———

तीसरा परिच्छेद

मित्र से मुलाक़ात

वर्षा-ऋतु का समय था। यमुना या ब्रह्मपुत्र लबालब भर उठा था। साँझ हो गई थी। दक्षिण-दिशा की ठंडी हवा चल रही थी और यमुना की तरङ्गों के स्पर्श से और भी अधिक ठंडी होकर जगत् को स्निग्ध कर रही थी। देखते-देखते कालिमा का आवरण चारों ओर फैल गया, समस्त दिङ्मण्डल अन्धकार से आच्छादित हो उठा। सन से बोझी हुई नौकायें नदी के प्रशान्त वक्ष पर अब तक विचरण कर रही थीं, किन्तु अन्धकार अधिक बढ़ जाने पर अभीष्ट मार्ग का निर्णय करने में असमर्थ होने के कारण वे धीरे-धीरे तट की ओर बढ़ने लगीं। समीप ही दस-बीस नौकायें बँधी हुई थीं। वे सभी सन से बोझी हुई थीं। चारों दिशायें निस्तब्ध थीं, कहीं से किसी प्रकार का भी शब्द नहीं आ रहा था। कहीं-कहीं दो-एक किसान खेत का काम समाप्त करके अन्धकार को विदीर्ण करते हुए घर लौट रहे थे।

नदी के तट से कुछ दूरी पर जमींदार राधामाधव वसु की ऊँची कोठी उस अञ्चल की शोभा बढ़ा रही थी। कोठी की तेज रोशनी से सड़क जगमगा उठी थी। राधामाधव बाबू उस समय सन्ध्याकाल के शीतल पवन का सेवन करने के लिए गये थे। दरबान लोग भला इस अवसर से लाभ क्यों न उठाते? फाटक के पास आकर उन सबने जमघट लगा दिया। किसी की भाँग घुट रही थी तो कोई तुलसीदास के दोहों की आवृत्ति कर रहा था। ठीक उसी समय अन्धकार को चीरती हुई एक मनुष्य-मूर्ति फाटक की ओर बढ़ी आ रही थी।

एकाएक माधवसिंह सरदार की दृष्टि आगन्तुक पर पड़ी। उन्होंने पञ्चम स्वर से पुकार कर पूछा—कौन है?

ज़रा-सा आगे बढ़कर आगन्तुक ने बँगला में पूछा—क्या कर्त्ता बाबू घर में हैं ?

दरबान सब हिन्दुस्तानी थे, वे लोग बँगला नहीं समझ पाते थे, इससे आगन्तुक के प्रश्न का आशय वे नहीं समझ सके। अतएव उत्तर से वञ्चित रहना उसके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उस बेचारे की कठिनाई का अन्त इतने में ही तो था नहीं। लोगों ने उसे चारों ओर से घेर कर लगातार इतने प्रश्न किये कि वह व्याकुल हो उठा। दरबानों के इस दुर्दान्त दल से मुक्ति प्राप्त करने की कामना से शायद वह मन ही मन दुर्गा जी का स्मरण कर रहा था, इसलिए विपद्विनाशिनी ने शीघ्र ही विपत्ति से उसका उद्धार कर दिया। बहुत ही हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और तेजस्वी घोड़ों की जोड़ी से जुती हुई एक बड़ी-सी गाड़ी आकर फाटक के पास खड़ी हुई। वसु महोदय ने दूर से ही यह भीड़ देख ली थी। इससे कोचमैन को कह दिया था कि गाड़ी भीतर न ले चलकर फाटक पर ही रोक देना।

गाड़ी देखते ही रास्ता छोड़कर दरबान लोग क़ायदे के साथ एक ओर खड़े हो गये। राधामाधव बाबू गाड़ी पर से उतर पड़े। आगन्तुक की ओर ज़रा-सा बढ़कर जैसे ही उन्होंने उसके मुखमण्डल पर दृष्टि डाली, प्रसन्नता के मारे उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उन्होंने कहा—ओ हो, बिपिन बाबू हैं ? कहो भाई, कब आये ? आओ, आओ, भीतर चलो। घर में अच्छा है न ?

दरबानों के हाथ से इस प्रकार अनायास ही छुटकारा प्राप्त कर सकने के कारण विपिन बाबू ने बहुत कुछ शान्ति का अनुभव किया। उन्होंने हँसते हुए कहा—हाँ भाई, सब अच्छा है। परन्तु यदि तुम ज़रा देर तक और न आते तो तुम्हारी यह बन्दरों की सेना नोच-खसोट कर शायद मुझे एकदम खा ही जाती। मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि शायद यहीं जीवन से हाथ धोने पड़ेंगे। ये न तो समझते थे मेरी बात और न समझते थे मेरे इशारे। सबके सब पूरे परमहंस हैं !

वसु महोदय ने मुस्कराकर कहा—प्रायः ये सभी नये आदमी हैं न। अभी ये हमारी बँगला-भाषा ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। यह कहकर विपिन बाबू का हाथ पकड़े हुए राधामाधव बाबू बैठक में गये। दरबानों के इस दल ने शिकार को हाथ से निकला हुआ देखकर उदास मन से फिर अपना कार्य पूर्ववत् आरम्भ कर दिया।

विपिन बाबू सन के दलाल थे। कलकत्ते में वे रहा करते थे। उस दिन वे यहाँ सन खरीदने के लिए आये थे। वसु महोदय विपिन बाबू के छुटप के साथी थे, इसलिए जब कभी कलकत्ते जाने की आवश्यकता पड़ती तब वे प्रायः विपिन बाबू के ही यहाँ ठहरा करते थे।

यथासमय भोजन आदि से निवृत्त होकर राधामाधव बाबू तथा विपिन बाबू बैठक के सामनेवाले बरामदे में आरामकुर्सियों पर बैठकर बातचीत करने लगे। रात्रि के समय का शीतल समीरण आ-आकर उनकी उष्णता का निवारण कर रहा था। बगलवाले कमरे में दो पलँग पर दोनों ही आदमियों के लिए बिस्तरे लगाये गये थे। पत्नी-वियोग के बाद से ही वसु-महोदय ने भीतर का सोना बन्द कर दिया था। अन्तःपुर में वे केवल दो बार भोजन के लिए जाया करते थे या और कोई विशेष काम-काज पड़ने पर जाया करते थे, अन्यथा वे बाहर ही बाहर अपना समय व्यतीत कर दिया करते थे।

बातचीत के सिलसिले में विपिन बाबू ने कहा—तुमने तो भैया एक तरह से हम लोगों की ममता ही छोड़ दी। पहले कभी-कभी कलकत्ते में चरणों की धूलि पड़ भी जाती थी, किन्तु इधर चार वर्ष से उस ओर कभी कृपा ही नहीं की।

राधामाधव बाबू ने कहा—क्या करूँ भाई? अकेला आदमी हूँ, यहाँ से एक मिनट के लिए भी हटने का अवसर नहीं मिलता। लड़का भी यहाँ नहीं रहता कि उसी के भरोसे पर कारबार छोड़कर दो-एक दिन के लिए कहीं आ-जा सकूँ।

विपिन बाबू ने कहा——हाँ, अच्छी याद आ गई। मेरा लड़का सतीश एक दिन सन्तोष की चर्चा कर रहा था। शायद उसे कहीं से पता चला है कि सन्तोष विलायत से लौटे हुए एक बैरिस्टर की कन्या के साथ विवाह करना चाहता है। शायद उस बैरिस्टर के यहाँ वह आया-जाया भी करता है। उसके घरवालों के साथ कभी-कभी सिनेमा आदि भी देखने जाता है। क्या तुम——

विपिन बाबू की बात काट कर वसु महोदय ने कहा——एं ! ऐसी बात ? क्या यह सब सच है ?

विपिन बाबू ने कहा——सच-झूठ का हाल भाई परमात्मा जाने, परन्तु चर्चा मैंने इस तरह की सुनी है।

वसु महोदय ने मुँह से तो कोई बात नहीं कही, परन्तु मन ही मन वे सोचने लगे कि वैष्णव-वंश में जन्म ग्रहण करके क्या वह इस तरह के अधःपतन के मार्ग की ओर अग्रसर हो चला है ? क्या वह पूर्वजों का धर्म और नाम डुबा देना चाहता है ? क्या मेरे धर्म और मेरे समाज से मेरा एकमात्र पुत्र इतनी दूर चला गया है ? असम्भव ! यह कभी नहीं हो सकता। मेरा वह सन्तोष, जिसने कभी मेरी ओर आँख उठाकर देखने तक का साहस नहीं किया, जिसने कभी बुलाये बिना मेरे पास तक आने का साहस नहीं किया, क्या वही आज उच्च शिक्षा प्राप्त करके मनुष्यता से इतना परे हो जायगा ? क्या वह वृद्ध पिता के मुँह में अन्तिम काल में एक बिन्दु जल छोड़ने के अधिकार से भी वञ्चित होना चाहता है ?

राधामाधव बाबू मन ही मन बहुत दुःखी हुए। वे सोचने लगे कि मैंने बड़े अभिमान से, बड़ा भरोसा करके, लड़के को कलकत्ते भेजा था। मुझे विश्वास था कि मेरा लड़का अपने कुल की मर्य्यादा से ज़रा भी विचलित न होगा। क्या मुझे यह आशा थी कि मेरा सन्तोष मेरी सारी मानमर्य्यादा मिट्टी में मिला देगा ? वह कभी ऐसे भी मार्ग का अनुसरण करेगा कि समाज उसे देखकर घृणा से मुँह फेर ले ? भाई-बिरादरी के लोग उसे देखकर मखौल उड़ायें ? क्या यही सब अपमान और लाञ्छन सहन करने के लिए

उसने मेरे यहाँ जन्म ग्रहण किया है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। चाहे जैसे भी हो, उसे लौटालकर मैं ठीक रास्ते पर लाऊँगा ही।

राधामाधव बाबू का हृदय उस समय इतना दुखी हो गया था कि वे अपने आपको एकदम से भूल ही गये थे। बड़ी देर तक व्याकुल भाव से पुत्र के भावी जीवन के सम्बन्ध में तरह तरह की बातें सोचने के बाद उन्होंने कहा––भैया, बैठे ही बैठे बड़ी रात बीत गई। थके-थकाये आये हो, चल कर विश्राम करो। कल सवेरे जैसा होगा, वैसा परामर्श किया जायगा। ठीक है न ?

विपिन बाबू ने कहा––इस सम्बन्ध में एक बात मुझे और कहनी है। लड़के पर शासन करने या भयप्रदर्शन करने से कोई लाभ न होगा। जहाँ तक हो सके, उसे समझा-बुझाकर ही रास्ते पर ले आने की कोशिश करनी चाहिए।

अन्त में वे दोनों ही मित्र कमरे में जाकर सो गये। उस रात्रि में वसु महोदय को निद्रा नहीं आ सकी। तरह-तरह की दुश्चिन्ताओं से उनका चित्त व्यथित हो उठा। अपने हृदय-पटल पर भविष्य का जो मधुमय चित्र उन्होंने अङ्कित कर रक्खा था उसे न जाने किसने पोंछकर साफ़ कर डाला। अतीत की सुखस्मृति उसे देखकर व्यङ्ग्य कर रही थी। ऐसी दशा में भला निद्रा कैसे आती ?

प्रातःकाल शय्या त्यागकर वसु महोदय ने नियमित रूप से शौच-स्नान तथा सन्ध्या-वन्दन आदि किया। बाद को वे अपने कचहरी के कमरे में आये। छोटे-छोटे काम करने के लिए उनके यहाँ एक लड़का नौकर था। उस दिन की डाक लाकर उसने उनके सामने रख दी और स्वयं दूर जाकर खड़ा हो गया। पास ही विपिन बाबू भी नर्चे में मुँह लगाये हुए बैठे थे। दीवान सदाशिव उस समय तक भी आवश्यक काग़ज़-पत्र लेकर उपस्थित नहीं हो सके थे। वसु महोदय एक-एक पत्र खोलकर पढ़ने लगे। कई पत्र पढ़ चुकने के बाद उन्होंने जब एक पत्र खोला तब उस पर दृष्टि जाते ही उनका चेहरा लाल हो गया। वह पत्र

उनके एक स्वामिभक्त असामी का लिखा हुआ था। पत्र इस प्रकार था--

"महामान्य श्रीयुत राधामाधव वसु

जमींदार बहादुर,

महामहिमार्णवेषु---

श्रीमान् की सेवा में दीन-हीन का निवेदन यह है कि सेवक का श्रीमान् के अन्न से पालन-पोषण हुआ है और श्रीमान् इस दास के अन्नदाता भयत्राता और प्रभु हैं। इसलिए यह सेवक अपना धर्म समझता है कि श्रीमान् के सांसारिक व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली हर एक बात दरबार में पेश करता रहे। समाचार यह है कि श्रीमान् के युवराज बहादुर खोका बाबू कई मास से एक ब्राह्म के यहाँ बहुत आते-जाते हैं और उसी ब्राह्म की एक कन्या के प्रति जो वेश्या का-सा शृङ्गार किये रहती है, खोका बाबू का ज़्यादा झुकाव मालूम पड़ता है। श्रीमान् को अन्नदाता समझकर यह दासानुदास सावधान किये दे रहा है कि उक्त वेश्या का-सा रूप धारण करनेवाली कन्या के प्रति खोका बाबू के हृदय में विशेष प्रेम उत्पन्न हो गया है और वे उसके भुलावे में पड़कर ब्राह्म मत के अनुसार विवाह तक करने को तैयार हैं। इस तरह का कर्म हो जाने पर श्रीमान् की मानहानि होनी सम्भव है। यह समझकर यह दासानुदास श्रीमान् को सूचना दे रहा है। श्रीमान् के चरण-कमलों में शतकोटि प्रणाम इति सेवकस्य।

---श्रीगदाधर पाल।"

यह पत्र पढ़ कर वसु महोदय ने विपिन बाबू को दे दिया। उन्होंने भी इसे बड़े ध्यान से पढ़ा। बाद को दोनों ही व्यक्तियों ने कुछ देर तक परामर्श किया। अन्त में उन्होंने बिछौना और बक्स ठीक करने का नौकर को आदेश किया। अन्तःपुर में उन्होंने भौजाई को कहला भेजा कि आज ही रात को मैं कलकत्ते जाऊँगा।

चौथा परिच्छेद

विधाता का विधान

सवेरा होते ही हरिनाथ बाबू लौटकर घर आगये। परन्तु वहाँ वे एक मिनट भी नहीं रुके। उलटे पाँव दत्त बाबू के द्वार पर पहुँच कर वे "विशू" "विशू" कह कर पुकारने लगे।

विशू उस समय बाहर के एक कमरे में बैठा राधामाधव बाबू से बात-चीत कर रहा था। इतने में एक परिचित कण्ठ से अपने नाम का उच्चारण सुनकर वह बोला---कौन है ! हरी दादा। आओ, मैं यहाँ हूँ। यह कहता हुआ वह निकला और हरिनाथ बाबू को साथ में लिये हुए राधामाधव बाबू के पास जाकर कहने लगा---वसु महाशय, ये ही वासन्ती के मामा हरिनाथ मिश्र हैं।

राधामाधव बाबू अभी तक लेटे थे, किन्तु हरिनाथ बाबू को देखते ही उठकर बैठ गये और उन्हें बैठने को कहा।

जरा देर तक चुप रहने के बाद विशू ने कहा---इतने सवेरे कैसे आये दादा ?

हरिनाथ बाबू ने उत्तर दिया कि कुछ काम से कल सवेरे घोषपुर चला गया था। सोचा था कि वहाँ तीन-चार दिन लगेंगे। परन्तु काम जल्दी ही हो गया। इसके सिवा वहीं के एक सज्जन कल वासन्ती को देखने के लिए आनेवाले हैं। इसलिए लौटने में मुझे और उतावली करनी पड़ी। घर आने पर सुना कि वासन्ती चाची (विशू की मा) के पास है, इससे उसे बुलाने के लिए मैं तुरन्त ही इधर चला आया, वहाँ ज़रा-सा बैठा तक नहीं।

राधामाधव बाबू ने तब कहा---क्या महाशय जी के कोई अविवाहिता कन्या है ?

हरिनाथ बाबू ने कहा—जी नहीं, कन्या नहीं एक भांजी है। उसी के विवाह की चिन्ता में पड़ा हूँ।

"क्या वर ठीक कर लिया है ?"

"अभी तक तो कुछ स्थिर नहीं हो सका है। चार छ: जगह बातें हो रही हैं। देखें, ईश्वर क्या करता है ?"

"आपके बहनोई जी क्या करते हैं ?"

यह बात सुनते ही हरिनाथ बाबू की आँखें डबडबा आईं। वे करुण-स्वर से कहने लगे—आज यदि वासन्ती के माता-पिता जीवित होते तो वह बेचारी मेरे घर में आती ही क्यों और मुझे इस झञ्झट में ही क्यों पड़ना पड़ता ? परन्तु वह जब केवल छ: मास की थी तभी मेरे बहनोई जी का स्वर्गवास हो गया। जो कुछ थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी उसे बहन जी को चकमा देकर भाई-पट्टीदारों ने बाँट लिया। अन्त में उन्हें मेरे इस दुःखमय परिवार में आकर शरण लेनी पड़ी। किन्तु बेचारी वासन्ती के भाग्य में माता का भी स्नेह नहीं बदा था। उसके चार वर्ष की पूरी होते ही वे उसे त्याग कर चली गईं। तभी से रात-दिन छाती से लगाकर मैंने उसे इतनी बड़ी किया है, अब—

हरिनाथ और कुछ न कह सके। पुरानी बातें स्मरण आ जाने के कारण आँसुओं के भार से उनका कण्ठ-स्वर रुँध गया।

राधामाधव बाबू ने फिर कहा—अच्छा हरिनाथ बाबू, क्या आप वह लड़की एक बार दिखला सकते हैं ?

हरिनाथ बाबू के उत्तर देने से पहले ही विश्वनाथ ने कहा—वसु महाशय, वासन्ती को तो आप कल रात्रि में देख चुके हैं।

यह सुनकर राधामाधव बाबू ने कहा—क्या वही हरिनाथ बाबू की भांजी थी ? है तो अच्छी लड़की। क्या उसकी जन्म-पत्री है ?

हरिनाथ बाबू ने कहा—जी नहीं, मैं तो जहाँ तक समझता हूँ, जन्म-पत्री नहीं है। परन्तु प्रयत्न करने पर यह मालूम कर सकता

हूँ कि किस मास में और किस तिथि को उसका जन्म हुआ था। ठीक-ठीक समय का पता लगाना अवश्य कठिन है।

राधामाधव बाबू ने कहा—आपके बहनोई जी की उपाधि क्या थी?"

"वे दत्त थे।"

ज़रा देर तक चुप रहने के बाद हरिनाथ बाबू ने पूछा—महाशय जी का स्थान कहाँ है? क्या आप यहाँ घूमने आये हैं?

जी नहीं, कुछ कार्य था। कल रात को तूफ़ान आगया। पानी भी बरसने लगा। इससे जाने का साहस नहीं हुआ। सोचा कि रात्रि में कहीं कोई चोर-बदमाश न मिल जायँ। इससे यहीं पर रुक गया।"

"आज यदि मेरे ही यहाँ भोजन करने की कृपा करते!"

वसु महोदय ने ज़रा-सा हँसकर कहा—आज अभी ही चला जाऊँगा, अन्यथा आपके यहाँ भोजन करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इसके लिए आपके मन को ज़रा भी कष्ट न होना चाहिए। मैं प्रायः इस ओर से होकर आता-जाता रहता हूँ। इस बार आने पर मैं अवश्य आपके यहाँ ठहरूँगा।

यह बात सुनकर विश्वनाथ ने कहा—माता जी सवेरे से ही उठकर आपके भोजन का प्रबन्ध कर रही हैं। रसोई तैयार होगई है। आप शीघ्र ही स्नान कर लीजिए। यदि आप कुछ खाये बिना ही चले जायँगे तो वे बहुत दुःखी होंगी।

विश्वनाथ की इस बात के उत्तर में वसु महोदय ने कहा—भैया, माता जी क्यों इतने सवेरे से ही मेरे लिए कष्ट करने लगीं? मैं प्रायः दो-तीन बजे तक भोजन किया करता हूँ। सन्ध्या-पूजा आदि से निवृत्त हुए बिना मैं भोजन नहीं करता, और वह सब करने में बड़ा झगड़ा है।

विश्वनाथ ने कहा—इसमें क्या झगड़ा है? मैं अभी सब प्रबन्ध किये देता हूँ। आपको यहाँ किसी प्रकार का सङ्कोच करने की आवश्यकता नहीं है।

यह कहकर विश्वनाथ के चुप हो जाने पर राधामाधव बाबू की ओर देखकर हरिनाथ बाबू ने कहा——महाशय जी, अब आज्ञा दीजिए। बाद को विश्वनाथ की ओर देखते हुए उन्होंने कहा——विशू, वासन्ती को यहाँ बुला लाओ, वसु महाशय उसे देख लें।

विश्वनाथ भीतर गया और ज़रा ही देर में वासन्ती को साथ में लेकर वह फिर लौट आया। वसु महोदय ने वासन्ती का हाथ पकड़कर उसे अपने पास बैठाल लिया और सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में वे उसके मुरझाये हुए चेहरे की ओर देखने लगे। तब हरिनाथ बाबू उठकर खड़े हो गये और कहने लगे कि वासन्ती, इन्हें प्रणाम करो।

वासन्ती ने मस्तक झुकाकर वसु महोदय को प्रणाम किया। उन्होंने भी उसके मस्तक पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। अन्त में भांजी को साथ में लेकर हरिनाथ बाबू दत्त-बाबू के घर से चल पड़े।

दोपहर को दत्त-बहू हरिनाथ बाबू के द्वार पर जाकर खड़ी हुई। उस समय उन्हें कोई दिखाई नहीं पड़ा। इससे वे पुकारने लगीं——क्यों रे वासन्ती, कहाँ चले गये तुम लोग? हरिनाथ कहाँ है?

वासन्ती उस समय चौके से बहुत-से जूठे बर्तन लिये हुए आ रही थी। दत्त-बहू को देखकर उसने कहा——नानी जी, मामा सो रहे हैं। बैठो, मैं उन्हें जगाये देती हूँ।

मस्तक पर से बर्तनों का बोझ उतारकर वासन्ती ने रख दिया और लोटे के जल से हाथ धोकर तेल से भीगी हुई एक फटी-सी चटाई उसने बिछा दी। उसी पर दत्त-बहू को बैठने को कहकर वह भीतर चली गई। क्षण ही भर के बाद वासन्ती की मामी का स्वर सुनाई पड़ा। वे पञ्चम स्वर से कह रही थीं——कहाँ की बला है? यह तो खोपड़ी खा गई ऐसी दोपहरी में मामा, मामा करके। क्या करेगी मामा को? इससे किसी तरह पिंड भी नहीं छूटता कि शान्ति से रह सकती।

बाहर से दत्त-बहू ने कहा——पिंड छुड़ाने का ही प्रबन्ध करने आई हूँ बहू! हरिनाथ को जरा-सा बुला दो।

दत्त-बहू का कण्ठस्वर सुनकर हरिनाथ बाबू बड़ी उतावली के साथ बाहर निकल आये। वे कहने लगे--कहो चाची जी, इस दोपहरी में कैसे निकल पड़ी हो ? क्या कोई ख़ास बात है ?

"बात अच्छी ही है। तुमसे एक बात कहने आई हूँ।"

वासन्ती उस समय बर्तन निकालने के लिए धीरे-धीरे चौके में जा रही थी। दत्त-बहू ने कहा--वासन्ती, यह सब तू इस समय रहने दे। मैं अपनी नौकरानी को कहती हूँ, वह आकर साफ़ कर देगी। तू मेरे पास आकर बैठ।

इसमें सन्देह नहीं कि इस बात से मामी बहुत रुष्ट हो गई थीं, परन्तु दत्त-बहू के सामने मुँह से वे कुछ निकाल नहीं सकती थीं।

हरिनाथ बाबू ने पूछा--कौन-सी बात है चाची जी ?

दत्त-बहू कहने लगीं--बात क्या है, सवेरे जिन वसु महोदय से तुम्हारी मुलाक़ात हुई थी वे एक बार फिर वासन्ती को देखना चाहते हैं। उस समय वे गये नहीं। इससे विशू ने मुझे तुम्हारे पास इसलिए भेजा है कि वासन्ती को ज़रा-सा सजा रखने की ज़रूरत है। परन्तु बहू इस बात का अनुभव नहीं करतीं। अभी थोड़ी ही देर में वे इसे देखने आवेंगे।

हरिनाथ बाबू ने कहा--तो चाची जी, उनके जल-पान आदि का भी कुछ प्रबन्ध करना होगा, नहीं तो अच्छा न मालूम पड़ेगा।

चाची जी ने कहा--कुछ तो करना ही पड़ेगा। और यह तो बहू भी कर सकती हैं। तुम बाज़ार से कुछ फल और थोड़ी-सी मिठाई ला दो। बाक़ी चीज़ें घर में ही तैयार हो जायँगी।

हरिनाथ बाबू की स्त्री का चाची जी के साथ एक गुरुजन का-सा सम्पर्क था। इस कारण उनके सामने वह बोलती नहीं थी। परन्तु क्रोध के वश में आ जाने के कारण वह इस बात को भूल गई। एक तो वह पहले से ही झुँझलाई हुई थी, बाद को यह बात सुनकर उसका पारा और चढ़ आया। बहुत ही कर्कश स्वर से उसने कहा--इन सब दुनिया भर के लोगों के लिए हाड़ तोड़ने को मैं नहीं तैयार हूँ। सवेरे से ही मेरे

मस्तक में पीड़ा हो रही है। मुझे बूँद भर पानी देनेवाला भी कोई नहीं है। तिस पर ऐसी दोपहरी में चूल्हे के सामने बैठकर ऐसे एरे गैरे लोगों के लिए भोजन बनाने बैठूँ? मुझे इतनी गरज़ नहीं है। जिसकी गरज़ हो वह करे।

यह सुनकर हरिनाथ बाबू ने रूखे स्वर में कहा--गरज़ चाची जी की ही है। ये ही सब करेंगी। तुम्हें--

उनकी बात समाप्त भी न होने पाई कि गृहिणी बोल उठीं--मैं तो सदा से ही बुरी हूँ। जो लोग अच्छे हों वही करें, मैं यदि न कर सकूँ। और मुझे घर में रखना यदि तुम्हें भार मालूम पड़ता हो तो मुझे मेरे पिता के यहाँ भेज दो।

हरिनाथ बाबू कुछ कहने जा रहे थे कि दत्त-बहू ने उनके मुँह पर हाथ रखकर कहा--बहू और हरिनाथ, तुम लोग ज़रा-सा चुप रहो। वे भी एक भले आदमी हैं। कहीं आ गये और तुम लोगों की इस तरह की बातें सुन लीं तो भला अपने मन क्या कहेंगे? मैं अकेली ही सब कुछ कर लूँगी। अब भी इस बुढ़ापे में भी मैं सात-सात भोज 'पार कर सकती हूँ। हरिनाथ, तुमको मैं जो कहती हूँ वही करो। बाज़ार जाते समय विशू को कहते जाना कि बहू मज़दूरिन को लेकर तुरन्त ही यहाँ आ जाय, देरी न होने पावे।

ज़रा ही देर के बाद एक नवयौवना स्त्री मज़दूरिन को साथ लिये हरिनाथ बाबू के घर में पहुँच गई। दत्त-बहू के पास जाकर उसने कहा--मा, क्या तुमने मुझे बुलाया है?

पुत्रवधू को देखकर उन्होंने कहा--बहू, तुम आ गई हो! अच्छा, तुम झटपट वासन्ती के बाल सँभालकर बाँध दो। बाद को मज़दूरिन से बर्तन साफ़ करने को कहकर वे स्वयं चूल्हा जलाने लगीं। परन्तु उन्हें ऐसा करते देखकर वासन्ती की मामी चुपचाप न रह सकी। दत्त-बहू को बैठने को कह कर वह स्वयं सारा काम-काज करने लगी।

यथासमय राधामाधव बाबू वासन्ती को देख गये। उसे तो वे पहले से ही पसन्द कर चुके थे, किन्तु जाते समय कह गये कि घर जाकर अपने निश्चय की सूचना दूँगा। विपिन बाबू के साथ में कलकत्ता जाने से पहले उन्होंने हरिनाथ बाबू को पत्र लिखा कि मैं दो-एक दिन में वासन्ती को आशीर्वाद देने आऊँगा।

पाँचवाँ परिच्छेद

विवाह से असन्तोष

मनुष्य जब दुराग्रह के वश में आकर कोई काम कर बैठता है तब उसमें इस बात का अनुमान करने की शक्ति नहीं रहती कि इसके कारण भविष्य में कैसी-कैसी विपत्तियाँ सहन करनी पड़ेंगी। पुत्र के जीवन की धारा परिवर्तित करने के विचार से राधामाधव बाबू ने जो इतनी बड़ी भूल कर डाली उसके दुष्परिणाम की ओर उनका ध्यान नहीं जा सका। कभी कभी जान बूझकर प्रियपात्र के गन्तव्य मार्ग में बाधा खड़ी करनी पड़ती है और उस बाधा के कारण बाधा पानेवाला व्यक्ति चाहे इतनी वेदना का अनुभव न करे, किन्तु बाधा डालनेवाले को कहीं अधिक मानसिक पीड़ा हुआ करती है। परन्तु फिर भी प्रियपात्र की मङ्गल-कामना से बहुधा उसके कार्य में बाधा डालनी पड़ती है, यही सनातन-प्रथा है। भविष्य की आड़ में कैसी कैसी विपत्तियाँ छिपी रहती हैं, यह बात समझने की शक्ति दृष्टि-शक्तिहीन मनुष्य में कहाँ है ?

मनुष्य सोचता है कुछ और हो जाता हैं कुछ। सन्तोष के जीवन में भी यही बात घटित हुई थी। जिस समय वह भविष्य के सुख का चित्र अङ्कित करके मिलन-दिन की प्रतीक्षा में बैठा था, उसी समय बिना बादल की बिजली के समान उसने एक दिन सुना कि उसे विवाह करना पड़ेगा। उसे यह भी ज्ञात हुआ कि पिता जी कलकत्ता आ गये हैं, उनके साथ मुझे घर जाना पड़ेगा। उसके जी में आया कि मैं पिता जी से सारी बातें साफ़ साफ़ कह दूँ। किन्तु उसके बाद ही वह बहुत लज्जित हुआ। उसने सोचा कि इस तरह की बातें कहना ठीक नहीं है। यह सब सुनकर पिता जी अपने मन में क्या कहेंगे ? अभी मुझे चुप ही रहना चाहिए। देखूँ, आगे चलकर क्या होता है ?

सन्तोष की माता थी नहीं, पिता ने ही अत्यधिक स्नेह तथा परिश्रम से उसका पालन-पोषण किया था। पिता का इतना अपरिसीम स्नेह उस पर था कि एक दिन भी वह माता के अभाव का अनुभव नहीं कर सका। अकेले पिता ही उसके माता-पिता दोनों थे। सन्तोष नें भी कभी पिता की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। आज भी वह वैसा नहीं कर सका। इससे पहले भी ऐसे कितने अवसर आये हैं, जब पिता से उसका मतभेद हुआ था, परन्तु किसी दिन भी उसने अपना मत नहीं प्रकट किया। पहली बात तो यह थी कि पिता के धार्मिक सिद्धान्त उसे बिलकुल ही पसन्द नहीं थे। जब तक वह पिता के सामने रहता तब तक तो वह पिता के आदेश के ही अनुसार कार्य करता रहता, किन्तु उन सब कार्यों के करने में उसकी ज़रा भी रुचि नहीं रहती थी। बात यह थी कि उसकी प्रवृत्ति थी आधुनिक प्रथा की ओर। पिता की पुरानी रीति-नीति उसे कैसे पसन्द आती? परन्तु पिता के रुष्ट होने के भय से उनके सामने वह कभी ऐसा कोई काम नहीं करता था जिसे वे पसन्द नहीं करते थे।

सन्तोष पिता के साथ गाँव चला आया। यहाँ आकर उसने अपने विवाह का हाल सुना। इससे उसके हृदय को बड़ा क्षोभ और वेदना हुई। किन्तु भीतर ही भीतर वह अतना क्रोध दबाये रहा, मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलने दिया। इस कारण उसकी वास्तविक अवस्था का पता किसी को भी नहीं चल सका। परन्तु सन्तोष के मनोभावों में जो कुछ परिवर्तन हुए थे उन्हें उसकी ताई कुछ कुछ समझ सकी थीं। इसी लिए एक दिन अकेले में पाकर उन्होंने उसे छेड़ा। सन्तोष के मलिन और सूखे मुंह की ओर ताक कर उन्होंने पूछा—सन्तू, विवाह करने की तेरी इच्छा नहीं है क्या बेटा?

ताई की उद्वेग से व्याकुल तथा जिज्ञासामयी दृष्टि से दृष्टि मिला कर सन्तोष ने कहा—मेरी इच्छा या अनिच्छा से होता ही क्या है? जिसकी इच्छा से यह हो रहा है, बाद को वे ही समझ सकेंगे।

ताई ने दुःखमय स्वर से कहा—छिः! छिः! इस तरह की बात

मुंह से न निकालनी चाहिए। सुनती हूँ कि लड़की बड़ी सुन्दरी है। इसके अतिरिक्त उसके कोई है नहीं। सुनती हूँ, वह बेचारी बड़ा कष्ट पा रही थी, इसी लिए...।

ताई की बात काटकर सन्तोष ने कहा—वह कष्ट पा रही थी तो इससे हमारा क्या मतलब? मुझे छोड़कर दुनिया में क्या और कोई वर ही नहीं मिल सकता था? मेरे सिर पर यह बला क्यों लादी जा रही है?

यह सुनकर ताई दुःखी हो गईं। वे कहने लगीं—राम! राम! तुम्हें यह क्या हो गया है बेटा? तेरी तो इस तरह की बुद्धि नहीं थी! यह सब क्या कहता है? पिता तेरा विवाह कर रहे हैं। जहाँ उन्हें पसन्द होगा, वहीं तो करेंगे। इसमें तुझे क्यों आपत्ति होनी चाहिए? इस तरह की बातें यदि उनके कानों तक पहुँच गईं तो वे बहुत दुःखी होंगे। इसलिए इस तरह की बात अब और किसी के सामने मुंह से मत निकालना।

एक लम्बी साँस लेकर सन्तोष ने कहा—यदि आवश्यकता समझो तो उन्हें सूचना दे दो। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि यह विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं है। परन्तु मैंने आज तक उनके सामने कोई बात नहीं कही, आज भी नहीं कहना चाहता हूँ। तुम पूछ पड़ी हो, इसलिए तुमसे कह दिया। देख लेना, बाद को तुम्हीं लोगों को रोना पड़ेगा। इस घर में मेरा यही अन्तिम आगमन होगा।

ताई ने उतावली के साथ हाथ लगाकर सन्तोष का मुंह बन्द कर दिया। उन्होंने कहा—चुप, चुप। इस तरह की बात मुंह से न निकालनी चाहिए सन्तू। कहीं कोई ऐसी बात भी कहता है? तू भी पागल हुआ है! कलकत्ते जाकर तू एकदम से आवारा हो गया। हम लोग अब हैं कितने दिन के? तेरी चीज़ तेरे ही पास रहेगी। मेरे सामने ऐसी बात और कभी न कहना बेटा!

सन्तोष को इस तरह समझा-बुझा कर ताई अञ्चल से आँसू

पोंछने लगीं। इधर सन्तोष ने एक रूखी हँसी हँसकर कहा--अच्छी बात है, यह सब बाद को मालूम हो जायगा।

यह बात कहकर सन्तोष बाहर चला गया। ताई वहीं पर बैठी रहीं। परन्तु ये बातें उन्होंने देवर से नहीं कहीं। उन्हें तो यह भली भाँति मालूम था कि वे कितने हठी और क्रोधी हैं। क्रोध में आकर वे कितना अनर्थ कर सकते हैं, यह भी वे खूब जानती थीं।

घर में बड़े धूमधाम से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। इलाहाबाद से वसु महोदय की बहन अपने पुत्र तथा दोनों कन्याओं को लेकर आ गई। उनका पुत्र सन्तोष की ही कक्षा में पढ़ता था। सन्तोष से वह केवल एक वर्ष छोटा था। वसु महोदय के बहनोई रमाकान्त बाबू नहीं आ सके।

जिसके विवाह के उपलक्ष्य में घर में आनन्द की बाढ़ आ रही थी उसका मन किसी के एक छोटे-से मुंह के सामने मँडराता हुआ नाच रहा था। वह सोच रहा था कि पिता जी जब जानबूझ कर मेरी इच्छा के विरुद्ध विवाह कर रहे हैं तब उसके लिए सारा प्रबन्ध वे ही करेंगे, उसके साथ मेरा कोई सम्पर्क न रहेगा। दरिद्र की कन्या है, उसे भोजन नहीं मिल रहा था। अब तो वह चिन्ता रहेगी नहीं। इतने में ही वह सुखी हो जायगी।

सन्तोष का यही निश्चय रहा। पिता से वह कुछ कह नहीं सका। उसके क्रोध का सारा भार जाकर पड़ा बेचारी वासन्ती पर जो सर्वथा निरपराध थी।

अन्तरात्मा की असह्य यन्त्रणा को ज़रा-सा शान्त करके सन्तोष ने सोचा कि पिता जी यदि विलायत से लौटे हुए आदमी की कन्या के साथ मेरा विवाह करने के लिए तैयार नहीं हैं तो यह बात उन्होंने स्पष्ट क्यों नहीं कह दी? यदि ऐसी बात होती तो मैं आजीवन अविवाहित रहकर देश और समाज की सेवा में ही अपने जीवन का उत्सर्ग कर देता। परन्तु उन्होंने यह क्या कर डाला? उन्होंने केवल मेरा ही सर्वनाश नहीं

किया, बल्कि एक निरपराध बालिका को भी सदा के लिए सङ्कट में डाल दिया।

सन्तोष इसी उधेड़-बुन में पड़ा था कि एकाएक उसकी बुआ के लड़के विनय ने आकर उसकी इस विचार-धारा को रोक दिया। उसने कहा—भैया, इस तरह चुपचाप बैठे-बैठे क्या सोच रहे हो? चलो जरा-सा टहल आवें।

एक लम्बी साँस लेकर सन्तोष ने कहा—कहाँ चलें भाई?

सन्तोष का मुरझाया हुआ और गम्भीर मुंह देखकर विनय विस्मित हो उठा। जरा देर तक चुप रहने के बाद उसने कहा—भैया, यदि नाराज न होओ तो एक बात पूछूं।

"क्या पूछना चाहते हो भाई? पूछते क्यों नहीं? नाराजी तो इस समय मुझे छोड़कर भाग गई है।"

"क्या आपको यह विवाह पसन्द नहीं है?"

अर्थहीन दृष्टि से विनय के मुंह की ओर ताककर उसने कहा—अभिभावक की इच्छा के ही अनुसार कार्य्य हुआ करते हैं। मेरी इच्छा या अनिच्छा से क्या होता जाता है?

सन्तोष की यह बात सुन कर विनय पहले तो चौंक उठा, बाद को उसने अपना भाव दबा लिया। उसने कहा—क्यों भैया, यह कैसी बात कह रहे हो?

सन्तोष ने विस्मित होकर कहा—कौन-सी बात?

"यही सब जो निरर्थक बक रहे हो?"

"यह सब निरर्थक नहीं है भाई! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब अर्थ रखता है। इस समय विवाह करने की मेरी बिलकुल ही इच्छा नहीं है।"

इतने में दीनू नामक नौकर ने आकर कहा—भैया जी, आपको बुआ जी बुला रही हैं।

सन्तोष ने कहा—कह दो कि आता हूँ।

यह सुनकर नौकर चला गया।

छठा परिच्छेद

विवाह

निर्दिष्ट लग्न में सन्तोषकुमार के साथ वासन्ती का विवाह हो गया। शुभ-दृष्टि के समय लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी वर-वधू में से किसी ने भी एक दूसरे की ओर नहीं देखा। इससे लोगों के दिल में ज़रा-सी खलबली मची थी अवश्य, किन्तु इस बात को किसी ने विशेष महत्त्व नहीं दिया। एक एक करके विवाह की सभी रस्में पूरी हो गईं। दूसरे दिन बड़ी धूमधाम और हर्ष-ध्वनि के साथ वासन्ती मामा के घर से विदा हो गई। हरिनाथ बाबू ने हाथ पकड़कर उसे गाड़ी पर बिठा दिया। वह गाड़ी की बाज़ू में मुँह छिपाकर सिसक-सिसककर रोने लगी।

सोहागरात के दिन ताई ने बड़े आग्रह के साथ सन्तोष को घर में बुलाया। परन्तु उसने भीतर की ओर पैर तक बढ़ाने की इच्छा नहीं की। अन्त में निरुपाय होकर उन्होंने सारा हाल अपनी ननद से कहा। सन्तोष की बुआ इस सम्बन्ध में भाई से पहले ही बहुत-कुछ सुन चुकी थीं। बाद को भौजाई के मुँह से भतीजे के इस प्रकार के अनुचित आचरण का हाल सुनकर वे बहुत ही क्रुद्ध हो उठीं। कुछ क्षण के बाद। घर में आये हुए अतिथियों तथा भाई-बन्धुओं को भोजन आदि कराने से निवृत्त होने पर सन्तोष जिस कमरे में लेटा था, उसमें उन्होंने प्रवेश किया। वहाँ जाकर उन्होंने देखा तो वह सोफे के ऊपर लेटे लेटे वक्षस्थल पर दोनों बाहु रक्खे हुए कुछ सोच रहा था। उस समय वह इतना अधिक चिन्तामग्न था कि उसे बुआ जी के आने की आहट तक नहीं मिल सकी।

बुआ जी धीरे धीरे सन्तोष के बिलकुल समीप जा पहुँचीं और

उसके ललाट पर हाथ रख दिया। उनके स्पर्श करते ही सन्तोष चौंके पड़ा। ज़रा- म्लान हँसी हँसकर उसने कहा——बुआ जी, क्या आप अभी तक सोई नहीं ?

एक धीमी-सी आह भरकर बुआ जी ने कहा——आज के इस शुभ दिन में तू यहाँ बाहर पड़ा है, और हम लोग निश्चिन्त होकर सोवें ! यह भी कभी सम्भव है ? चल, भीतर चल, वह बचारी लड़की अकेली पड़ी है !

बुआ के मुँह की ओर ताककर सन्तोष ने कहा——मेरी तबीअत अच्छी नहीं है बुआ जी ! मुझे चुपचाप सोने दीजिए। आप लोगों में से कोई जाकर उस कमरे में सो रहे।

बुआ ने ज़रा-सा हँसकर कहा——तेरे समान पागल लड़का तो मुझे और कहीं देखने में आया नहीं। आज भला हम लोगों को उसके कमरे में सोना चाहिए ? यह बहानाबाज़ी न चलेगी। उठ, जल्दी से चल यहाँ से।

सन्तोष ने ज़रा अनुनयपूर्ण स्वर में कहा——आपकी बात में न काट सकूँगा बुआ जी ! मुझे फिर वहाँ जाने को न कहिएगा।

सन्तोष की यह बात सुनकर बुआ ने स्थिर और गम्भीर स्वर से कहा——सन्तू, पढ़-लिखकर तुम इस तरह के मनमाने हो जाओगे, इस बात की आशा हम लोगों ने कभी नहीं की थी। छिः, छिः ! दस आदमियों के बीच में तुमने इस तरह हमारे मुँह में कारिख लगा दिया ! जो होना था वह तो हो ही गया, अब तो वह लौट नहीं सकता। अब तू इस तरह का आचरण क्यों कर रहा है ? देखो न, चारों तरफ़ दस भाई-बिरादरी के लोग कितना हँस रहे हैं ? बाद को तेरी जो इच्छा होगी वही करना, लेकिन जब तक मैं यहाँ रहूँ, तब तक तो मेरी बात माननी ही पड़ेगी। यह कहकर उन्होंने सन्तोष से उठने को फिर कहा।

घर में बुआ जी का अखण्ड प्रताप था। छः-सात वर्ष के बाद वे

थोड़े दिनों के लिए अपने पित्रालय में आया करती थीं। छुटपन से ही वे बड़ी अभिमानिनी थीं। साथ ही उनका लाड़-चाव भी ख़ूब था। जब कभी कोई उनकी बात न मानता या किसी प्रकार से उनकी अवज्ञा करता तो उसे वे सहन नहीं कर सकती थीं। वे मुँह से कहा तो कुछ नहीं करती थीं, परन्तु उन्हें जब कोई कुछ कहता था तब वे तुरन्त ही रो पड़ती थीं। उनका वह रोना जल्दी समाप्त भी नहीं होता था। यही कारण था कि जब कभी वे पित्रालय में आतीं, सभी लोग उनके सामने फूँक फूँककर ही पैर रक्खा करते थे। वसु महोदय तक उनसे घबराते ही रहते थे। सन्तोषकुमार भी बुआ के स्वभाव को भली-भाँति जानता था, इससे यह बात अनुभव किये बिना वह नहीं रह सका कि यदि उनकी बात कट गई तो उनके हृदय को असह्य वेदना होगी। परन्तु फिर भी उसने स्पष्ट स्वर से ही कहा--बुआ जी, आज तो मैं आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन न कर सकूँगा, परन्तु कल से कृपा करके इस सम्बन्ध में मुझसे कुछ न कहा कीजिएगा। आप मेरा मस्तक छूकर इस बात की प्रतिज्ञा कीजिए।

बुआ जी ने कहा--दुर पागल कहीं के! यह भी कोई ऐसी बात है कि मस्तक छूकर कहूँ! अच्छी बात है, कल से मैं तुझसे कुछ न कहूँगी।

बुआ जी ने मन ही मन कहा--आज तो तुम चलो, कल से कहना ही न पड़ेगा। बहू का इस तरह का सुन्दर मुँह देखते ही तुम ठिकाने पर आ जाओगे, कल तुम्हारा दिमाग़ इस तरह का न रहेगा। दस अक्षर अँगरेज़ी पढ़ लेने पर लौंडों का दिमाग़ ही उल्टा हो जाता है। इसी लिए तो बड़े लड़कों को अकेले नहीं रहने देना चाहिए। ये लोग नाटक-उपन्यास पढ़कर स्वयं भी उपन्यास के नायक बनाना चाहते हैं।

सन्तोष को लेकर बुआ जी के भीतर पहुँचते ही स्त्रियों ने उस समय के समस्त कर्मकाण्ड बात की बात में समाप्त कर डाले। बाद को सन्तोष को सोने को कहकर बुआ जी ने दरवाज़ा भिड़ा दिया और वे स्वयं भी सोने चली गईं। उनके जाने के बाद सन्तोष ने

ज़मीन पर एक चटाई बिछा ली और उसी पर वह सो गया। वासन्ती उस समय अकेली ही चारपाई पर सोई हुई थी। जरा देर के बाद करवट बदलने पर उसने देखा कि सन्तोष भूमि पर लेटे हुए हैं। यह देखकर वासन्ती बहुत ही विस्मित हुई। वह सोचने लगी कि यह क्या हुआ! वे भूमि पर क्यों लेटे हैं? वह उठकर बैठ गई। सन्तोष उसकी ओर पीठ किये और चदरे से सारा शरीर ढँके लेटा हुआ था। ज़रा देर तक उसकी ओर ताकने के बाद वह फिर लेट गई।

वासन्ती माता-पिता से हीन थी। जिस परिवार में उसका पालन-पोषण हुआ था उसमें उसे सदा अनादर ही सहना पड़ा था। इस प्रकार उसका जीवन सदा से ही बहुत कष्टमय रहा था। ऐसी अवस्था में एक ज़मींदार की पुत्रवधू होकर जब वह राज-प्रासाद के समान ऊँची अट्टालिका में पहुँची तब उसने सोचा कि अब हमारे दिन फिर गये हैं। परन्तु उसके ऊपर जब विधाता की ही भृकुटि वक्र तब भला उसे सुख कहाँ से मिल सकता था? उसे तो आशा से कहीं अधिक सुख-सामग्रियाँ प्राप्त करके भी उनके उपभोग से वञ्चित ही रहना पड़ा।

उत्सव के दिन बहुत अच्छी तरह से बीत गये। एक एक करके नातेदार-रिश्तेदार स्त्री-पुरुषों का दल विदा हो गया। बुआ जी का भी इलाहाबाद लौटने का समय आ गया। परन्तु भतीजे का रंग-ढंग देखकर वे डर गईं। दूसरे की कन्या को अपनी बनाने के लिए कितनी सहिष्णुता की आवश्यकता पड़ती है, यह बात शायद बहुत-से लोग नहीं जानते। नववधू जिस समय अपना आजन्म का परिचित घर, सखी-सहेलियाँ, माता-पिता तथा अन्यान्य आत्मीय जनों का परित्याग करके, हृदय में अपार वेदना लेकर ससुराल में निवास करने के लिए आती है, उस समय एक व्यक्ति का निष्कपट प्रेम एवं अनुराग प्राप्त करके पिता

की स्मृतियों को भुलाने लगती है, भुला भी देती है। परन्तु जो अभागिनी उस व्यक्ति के प्रेम से वञ्चित रहती है उसे सुखी करने के लिए कोई चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह सुखी नहीं हो सकती। प्रत्युत उसकी दुरवस्था की सीमा नहीं रहती। अपनी इस अनादृत अवस्था का स्मरण आने पर, उसके चित्त में कितनी वेदना उत्पन्न होती है, इस बात को भुक्तभोगी के अतिरिक्त और कोई अनुभव नहीं कर सकता। वासन्ती का भी यह हाल हुआ था अवश्य, किन्तु अपनी इस अवस्था का अनुभव करने के योग्य वह तब तक नहीं हो सकी थी। परन्तु भतीजे की असाधारण गम्भीरता देखकर एक अज्ञात आशङ्का से बुआ जी का हृदय कम्पित हो उठा। वे सोचने लगीं कि बिधाता ने यदि वासन्ती के भाग्य में ऐसा ही स्वामी लिखा था तो उस बेचारी को इस तरह अनाथिनी क्यों बना रक्खा है! अदृष्ट का यह कैसा निष्ठुर परिहास है! इसका परिणाम क्या होगा, यह कौन बतला सकता है? वासन्ती का तो अभी सारा जीवन ही पड़ा है। तो क्या आजन्म उसका यही हाल रहेगा? इस बात की तो मैं कल्पना तक नहीं कर सकती हूँ।

सोहागरात के दिन के बाद सन्तोष ने जब अपने पढ़नेवाले कमरे में आश्रय ग्रहण किया तब से वह उसमें से बहुत कम निकलता था। किसी से बातें भी वह बहुत कम करता था। एक कोने में पड़े ही पड़े वह रात की रात और दिन का दिन काट दिया करता था। यदि कोई कभी उसके पास जाकर बैठता तब उसके मुंह पर विरक्ति का भाव उदित हो आता। इस कारण धीरे धीरे उसके पास जानेवालों की संख्या कम होने लगी। लोग सोचने लगे कि जब वे रुष्ट ही होते हैं तब उनके पास जाने से लाभ ही क्या है? सोहागरात के बाद ही कलकत्ता जाने की भी उसकी इच्छा हुई थी, केवल बुआ जी के अत्यधिक आग्रह से ही वह नहीं जा

सका। उन्होंने सन्तोष का हाथ पकड़कर कहा था कि जिस दिन मैं जाऊँगी, उसी दिन तू भी जाना। इसी लिए वह रुक गया।

सन्ध्या का अन्धकार प्रगाढ़ हो चुका था। सन्तोष के कमरे में उस समय भी चिराग़ नहीं जला था। उसी कमरे में टहलते-टहलते वह सोच रहा था कि अब मैं सुषमा आदि को कैसे मुँह दिखला सकूँगा। उस दिन मैं द्विज-देवता तथा अग्नि को साक्षी बनाकर जिस एक बालिका का हाथ पकड़ चुका हूँ, जिसके सुख-दुख का अंशभागी बन चुका हूँ, उसके भविष्य का उत्तर-दायित्व किस पर है? मुझ पर या पिता जी पर? मैंने तो उन्हें अपने मन का भाव पहले ही सूचित कर दिया था। उस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। ऐसी दशा में उसकी जिम्मेदारी भी उन्हीं पर है। मेरे जीवन की अधिष्ठात्री देवी तो केवल सुषमा है। उसे छोड़कर और कोई भी मेरे हृदय पर कभी अधिकार नहीं कर सकता। पिता जी के इस अन्याय को मैं कभी नहीं सह सकूँगा। मुँह पर मैं उनके प्रति कभी अवज्ञा अवश्य नहीं प्रकट करूँगा, किन्तु इसका फल शीघ्र ही उन्हें देखने को मिलेगा।

सातवाँ परिच्छेद

मित्र का समाचार

सन्तोष को कलकत्ता आये प्रायः एक मास हो गया। इस एक मास में वह कालेज भी नहीं गया, घूमने के लिए भी नहीं निकला। वह सदा ही घर के भीतर बैठा रहता। किसी के आने पर वह बहुधा ठिकाने से मिलता भी नहीं था, बातचीत भी नहीं किया करता था। धीरे धीरे इस प्रकार के व्यवहार के कारण उसके सभी मित्र उससे असन्तुष्ट हो गये। उन लोगों ने क़रीब क़रीब उसके पास आना-जाना भी बन्द कर दिया। इससे सन्तोष को प्रसन्नता ही हुई। उसने सोचा कि चलो, झंझट दूर हुआ। भीड़-भाड़ और कोलाहल से अलग रहकर उस निर्जन कारागार में उसने अपने आपको क़ैद कर लिया। इससे उसे बहुत कुछ शान्ति मिली।

अब सन्तोष रात-दिन बेकार ही बैठा रहता। इससे भी उसकी तबीअत बहुत घबराती। किसी तरह समय ही नहीं व्यतीत होता था। अब वह यह समझने लगा कि यदि मैं इसी प्रकार और कुछ दिनों तक रहा तो शीघ्र ही पागल हो जाऊँगा। परन्तु वह करता क्या? कोई उपाय तो था नहीं! उसका मन उसे वहीं क़ैद कर रखना चाहता था। बाहर का कोलाहल उसे असह्य मालूम पड़ता था। न जाने कैसी एक प्रकार की व्याकुलता, एक प्रकार की अतृप्ति, एक प्रकार की वेदना, मानो सदा ही उसके हृदय को दग्ध करती रहती थी, मन में एक प्रकार की खिन्नता उत्पन्न किये रहती थी, हृदय मानो वेदना से अवसन्न हो उठता था, उसे कुछ भी

अच्छा नहीं लगता था, किसी भी बात से उसे शान्ति नहीं मिलती थी।

सन्तोष रह रह कर यही बात सोचा करता था कि यदि कभी सुषमा या उसके परिवार के लोगों से मुलाक़ात हो गई तो उनसे क्या कहूँगा। मैंने अवश्य ही नितान्त अनिच्छा से यह विवाह किया है, परन्तु क्या वे लोग इस बात पर विश्वास कर सकेंगे ? या यह सब विवरण बतलाने से ही उन लोगों को क्या लाभ होगा ? कभी कभी संतोष यह भी सोचता था कि सुषमा वास्तव में मुझे प्यार करती थी या नहीं ? मैंने उसके सम्बन्ध में भूल से तो यह धारणा नहीं बना ली है ?

धीरे धीरे सन्ध्या का अन्धकार कलकत्ता महानगरी को आच्छादित कर रहा था। चारों ओर अगणित दीपशिखायें प्रज्वलित हो उठीं। उस समय सन्तोष के मन में यह बात आई कि ज़रा-सा इधर-उधर घूम आऊँ तो सम्भव है कि चिन्तायें बहुत कुछ कम हो जायँ। यह सोचकर सन्ध्या के अन्धकार में वह घूमने के लिए निकला।

कुछ समय तक इधर-उधर घूमने-फिरने के बाद सन्तोष हेदुआ तालाब के पास आया। यहाँ आने पर उसने अत्यधिक क्लान्ति का अनुभव किया। इससे वह वहीं बैठ गया, सोचा कि ज़रा-सा विश्राम कर लूँ। वहाँ बैठते ही अतीत की कितनी मधुमय स्मृतियाँ उदित होकर उसे आन्दोलित करने लगीं। चार मास पहले वह सुषमा को लेकर उसके भाई के साथ प्रायः यहाँ घूमने आया करता था। उस समय पूर्ण आनन्द के साथ उसके दिन व्यतीत हो रहे थे। हाय ! कहाँ वह दिन और कहाँ आज की दुर्दशा का दिन ! कितना अन्तर था ! यदि वह समय फिर लौटाल पाता ! अतीत की स्मृतियों ने चारों ओर से घेरकर मानो उसे ज़ोर से पकड़ लिया। असह्य यन्त्रणा के मारे उसका दम-सा घुटने

लगा, इतने में पीछे से कोई बोल उठा---ये क्या सन्तोष बाबू हैं ? कब आये भाई ?

सन्तोष ने जैसे ही मस्तक उठाकर देखा, अनिल खड़ा था। उसे देखते ही विस्मय के मारे वह स्तम्भित-सा हो उठा। दुःख के आवेग के कारण उसके मुँह से बात नहीं निकल रही थी।

अनिल ने सन्तोष के कन्धे पर हाथ रख दिया। वह कहने लगा---कहो भाई सन्तोष, बोलते क्यों नहीं हो ? गाँव से कब आये ?

कुछ देर के बाद कम्पित कण्ठ से सन्तोष ने कहा---मुझे आये प्रायः तीन मास हो गये।

सन्तोष की यह बात सुनते ही कुछ आश्चर्य में आकर अनिल ने कहा---तुम्हें आये इतने दिन हो गये ! मुझे तो कुछ मालूम ही नहीं हो सका। मेरे यहाँ क्यों नहीं आये भाई !

सन्तोष उस समय बड़ी चिन्ता में पड़ गया था। वह सोचने लगा कि कौन-सा कारण बतलाऊँ। वह कोई भी ऐसा उपाय नहीं सोच सका, जिसके द्वारा यह बतलाता कि तुम लोगों के साथ मेरे सारे सम्बन्धों का ही अन्त हो गया है, वहाँ जाने का मार्ग मैंने अपने आप ही रुद्ध कर दिया है, क्या मुँह लेकर मैं तुम्हारे द्वार पर फिर जाऊँ।

सन्तोष को निरुत्तर देखकर अनिल ने व्यथित कण्ठ से कहा---तेरी यह दशा कैसी हो गई है भाई ? तेरे विवाह का समाचार पाकर हम लोग कितने प्रसन्न हुए थे। सोचा था कि तू हम लोगों को पत्र अवश्य लिखेगा। परन्तु भाई, तूने खबर तक न दी। यह क्यों भाई ? क्या तू हम लोगों से नाराज़ है ?

सन्तोष ने दृढ़ कण्ठ से कहा---क्या वह भी विवाह-जैसा विवाह था, जिसके लिए सब को सूचना देता ? पिता की आज्ञा टाल नहीं सका, इससे विवाह कर लिया है। वह तो वास्तविक विवाह नहीं है।

अनिल ने संशयपूर्ण स्वर से पूछा---यह क्या ? यह कैसी बात

कहते हो भाई ? इस तरह की बात क्या तुम्हारे मुँह से शोभा देती है ? विवाह भी कभी झूठ-मूठ हो सकता है ?

"सम्भव है कि मेरा यह कथन दूसरों के सम्बन्ध में ग़लत हो, किन्तु मेरे सम्बन्ध मे तो ठीक ही है।"

"यह तुम कैसा पागलपन कर रहे हो सन्तोष ?"

असहिष्णु भाव से सन्तोष ने कहा—अनिल, यह पागलपन नहीं है। यह मेरे मन की पक्की बात है।

बड़ी देर तक चुप रहकर अनिल न कहा—क्या हुआ है सन्तोष ? बतलाते क्यों नहीं ? इस तरह की बातें क्यों कर रहे हो ?

एक रूखी हँसी हँस कर सन्तोष ने कहा—बात किस तरह की करताहूँ ? क्या तुम अब भी समझ रहे हो कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह मिथ्या है ?

अनिल ने दुःखमय स्वर में कहा—क्या मैं यही बात कह रहा हूँ ? मेरा कहना तो यह है कि जब तुमने विवाह ही कर लिया तब अब इस तरह की बातें क्यों कर रहे हो ?

रुँधे हुए कण्ठ से सन्तोष ने कहा—भूल—भूल की है अनिल। मैंने ज़बरदस्त भूल की है ! परन्तु जो कुछ हुआ, वह तो हो गया। अब मैं उस पाप का प्रायश्चित्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यह सुनकर अनिल सोचने लगा, तो क्या सन्तोष ने सचमुच अपनी इच्छा के विरुद्ध ही विवाह किया है या यों ही निरर्थक बातें बना-बना कर मुझे भुलावे में डाल रहा है ? परन्तु मुझे भुलावा देने से उसे क्या लाभ होगा ? इससे तो कोई विशेष फल हो नहीं सकता। उसने जो कुछ कर डाला है वह अब लौटने को नहीं है। तब भला वह क्या करेगा ? वह बेचारी निरपराध बालिका क्या करेगी ? उच्च शिक्षा पाकर भी सन्तोष यह कैसा मूर्ख का-सा घृणित आचरण करने जा रहा है ? इसका परिणाम क्या होगा ? इसे यदि समझायें तो क्या यह सुनेगा ? इसके रंग-ढंग से तो ऐसी आशा पाई नहीं जाती। तो भला यह किस

प्रकार इस संकल्प का परित्याग करने के लिए बाध्य किया जा सकेगा ? यह सब वह कुछ भी नहीं निश्चय कर सका।

सन्ध्या-समय की शीतल और मन्द-मन्द वायु आकर उन दोनों के शरीर पर पंखा झल रही थी। सन्तोष सोच रहा था, अहा ! मेरे शरीर के भीतर भी यदि यह हवा इसी तरह की शीतलता उत्पन्न कर सकती ! परन्तु कदाचित् यह ज्वाला शीतल होनेवाली नहीं है। शीतल कैसे हो ? मैंने तो स्वयं अपने हाथ से ही कालकूट का भक्षण किया है। चिरदिन तक मुझे उस विष की ज्वाला से जर्जरित होना पड़ेगा। इससे मेरा छुटकारा नहीं है। यह संसार सहानुभूति से विहीन है। यह मेरा दुःख नहीं समझ सकेगा। अपने मन की बात यदि किसी से कहूँगा तो भी वह मेरे प्रति घृणा का ही भाव प्रकट करेगा, दया न प्रदर्शित करेगा।

सन्तोष इसी प्रकार की विचार-धारा में तल्लीन था। एकाएक उसे वह समय याद आया जब उसने अपने मन में कहा था—यदि आवश्यकता पड़ी तो सुषमा के लिए मैं पिता के ऐश्वर्य तक का परित्याग करने से मुँह न मोड़ूँगा। यह बात मन में आते ही सन्तोष के दुःख की सीमा न रही। वह मन ही मन कहने लगा—आज मेरा वह अभिमान कहाँ है ? उस दिन क्या मैं यह समझ सका था कि दर्पहारी एक दिन इस तरह से मेरा दर्प चूर्ण कर देंगे ?

दोनों की नीरवता भंग करके सन्तोष ने कहा—अनिल, रात हो गई है। चलो, अब घर चलें।

गैस की जगमगाती हुई रोशनी में सन्तोष के उदास और सूखे हुए मुँह की ओर ताक कर अनिल ने कहा—सन्तोष, बतलाने में यदि तुम किसी प्रकार की हानि न समझो तो बतलाओ भाई कि तुम्हें किस बात का क्लेश है ?

रुँधे हुए कण्ठ से सन्तोष ने कहा—अनिल, किस तरह समझाऊँ भाई ? मुझे बड़ा कष्ट है।

अनिल उसके गले से लिपट गया। वह गम्भीर स्वर में कहने लगा—तुम पढ़े-लिखे हो, पुरुष हो। तुम्हें क्या इतनी ही सी बात में अधीर हो जाना चाहिए भाई ?

सन्तोष ने अनिल के कन्धे पर मस्तक रख दिया। आँसुओं से रुँधे हुए कण्ठ से वह कहने लगा—यह ज़रा-सा कष्ट नहीं है अनिल, मैं समझता हूँ कि इसकी तुलना...... ।

एक लम्बी साँस लेकर अनिल ने कहा—छिः ! भाई, इस तरह की बात मन से निकाल दो। बाद को कहीं कोई अनर्थ न कर बैठो। तुम्हें हुआ क्या है ? ज़रा बतलाओ तो।

सन्तोष ने कम्पित कण्ठ से कहा—अनिल, मैंने तुम्हें जिस दिन देखा है उस दिन से बड़े भाई के ही समान मानता आया हूँ। तुमसे कोई बात छिपाऊँगा नहीं। छोटा भाई समझ कर मुझे क्षमा कर देना। परन्तु एक बात है अनिल, तुम्हारी बहन को छोड़कर मेरी और कोई स्त्री नहीं है। मेरे हृदय में सुषमा को छोड़कर और किसी के लिए भी स्थान नहीं है। सुनो अनिल, अपने आपको अपराधी समझकर अपने मन के साथ मैंने बहुत युद्ध किया है, परन्तु उसे अपने वश में नहीं कर सका। ......आगे वह कुछ कह नहीं सका।

आठवाँ परिच्छेद

बुआ जी का पत्र

राधामाधव बाबू के दिन जिस तरह बीत रहे थे, उसी तरह बीतने लगे। उन्हें देखकर एकाएक यह कोई नहीं समझ पाता था कि उनके मन में किसी प्रकार की अशान्ति का भाव है या उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ है। प्रतिदिन सन्ध्या-पूजा से निवृत्त होने के बाद वे काम-काज में लग जाते और सभी काम समाप्त किये बिना न उठते। दोपहर में वे अन्तःपुर में भोजन करने के लिए जाते। वासन्ती को वे अपने पास बैठाकर भोजन कराया करते थे। एक दिन वासन्ती ने इस विषय में आपत्ति की थी, इससे वे दुःखी हुए थे। तब से वासन्ती का भोजन करने का स्थान राधामाधव बाबू के समीप ही हुआ करता था।

वसु महोदय सभी कुछ चुपचाप सहन करते जा रहे थे। वे केवल उसी समय अत्यधिक दुःखी हुआ करते थे जब वेदना से पीड़ित दीन-हीन वासन्ती उनके दृष्टि-पथ पर आ पड़ती। उसे देखकर राधा-माधव बाबू के हृदय को इतनी अधिक यन्त्रणा होती कि उसके आवेग को सहन करना असम्भव हो जाता। वे यह बात अच्छी तरह जानते थे कि वासन्ती के सुख-दुःख का मैं ही एक-मात्र कारण हूँ। वे प्रायः सोचा करते कि उच्छृङ्खलता के कारण मेरा पुत्र मेरे अधिकार से निकला जा रहा था, उसे ठिकाने पर लाने के लिए ही मैंने वासन्ती के साथ उसका विवाह किया है। परन्तु ऐसा करके मैंने वासन्ती को कैसी दुर्दशा में डाल दिया है।

वासन्ती जब कभी राधामाधव बाबू के दृष्टिपथ पर आती, उसके मुख पर विषाद की छाया वर्तमान रहती। नीले कमल

के समान उसकी सुन्दर सुन्दर आँखों में कालिमा की रेखा उदित हो आई थी। उसके मुर्झाये हुए मुँह पर दृष्टि स्थिर करके वे गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो जाते। वे सोचते कि मामी के कठोर शासन में तरह-तरह के दुःख सहते रहने पर भी उस दिन दीपक के क्षीण आलोक में वासन्ती का मुख इस तरह सूखा हुआ नहीं दिखाई पड़ा, उसके चेहरे पर इतनी उदासी नहीं मालूम पड़ी। अनुताप से उनका हृदय परिपूर्ण हो उठता। उसी क्षण उनके हृदय में यह बात आया करती कि बिना सोचे-विचारे दुर्दान्त मनोवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञानहीन होकर पुत्र-बधू का मैंने किस प्रकार सर्वनाश कर दिया है, शायद मैं इसका प्रतीकार किसी प्रकार भी नही कर सकता हूँ।

वासन्ती भी जहाँ तक हो सकता, अपनी मानसिक अवस्था को श्वशुर से छिपाये रखने का प्रयत्न किया करती थी। विवाह के समय वह निरा बच्ची तो थी नहीं। अवस्था के साथ ही साथ उसके ज्ञान की भी बराबर वृद्धि होती जा रही थी और उसे अब यह समझना बाक़ी नहीं रह गया था कि मेरी वास्तविक अवस्था क्या है। परन्तु उसके दुःख के कारण कहीं श्वशुर के हृदय पर आघात न लगे, इस आशङ्का से अपने मन का भाव उन पर वह किसी प्रकार भी नहीं प्रकट होने देना चाहती थी। उसके पति का व्यवहार किस प्रकार हृदय-विदारक था, इसका अनुभव भला बुद्धिमती वासन्ती ने भलीभाँति कर लिया था?

विवाह के बाद बुआ जी जब इलाहाबाद के लिए रवाना हुईं तभी सन्तोष कलकत्ते चला गया था, वहाँ से वह लौट कर आया नहीं। पुत्र के इस अनुचित आचरण से वसु महोदय बहुत ही मर्माहत हुए थे। परन्तु वे थे बहुत ही धीर पुरुष, इससे उनके हृदय की अशान्ति का किसी को आभास तक नहीं मिल सका। उन्हें यह किसी प्रकार भी सह्य नहीं था कि बाहर के लोग मेरे पुत्र के व्यवहार के सम्बन्ध में जैसी-तैसी आलोचना करते फिरें। परन्तु वे यह भी अनुभव किया करते थे कि पुत्र का यह आचरण क्रमशः भाई-बिरादरी और नातेदार-रिश्तेदार लोगों को मालूम

हुए विना न रहेगा। यह सोच कर वे और भी दुःखी हुआ करते थे। बार बार सोचने पर भी यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी कि इतनी सुन्दरी होने पर भी वासन्ती सन्तोष को क्यों नहीं पसन्द आ सकी। तो क्या अनादि बाबू की कन्या वासन्ती की अपेक्षा अधिक सुन्दरी है? सम्भव है कि वह गुणवती हो, किन्तु वासन्ती किसी के प्यार करने योग्य नहीं है, यह बात उनकी धारणा से परे थी।

वासन्ती कभी किसी तरह का ठाट-बाट नहीं बनाती थी। वह सदा बहुत सादी पोशाक में रहा करती थी। उसके मुखमण्डल पर किसी प्रकार का तेज नहीं रहता था। उसे इस प्रकार की मलिन अवस्था में देखते ही राधामाधव बाबू यह सोचा करते थे कि अतुलित ऐश्वर्य के बीच में आकर भी वासन्ती सुखी न हो सकी। अपनी अक्षम्य निर्बुद्धिता को सहस्र बार धिक्कार देकर वे हृदय-विदारक व्यथा से अस्थिर हो उठते। वे सोचा करते कि वासन्ती क्यों मेरे दृष्टि-पथ पर गई थी। यदि ऐसा न हुआ होता तो उसका भाग्य किसी और ही मार्ग से प्रवाहित होता। शायद वह सुखी हो सकती।

उस दिन प्रातःकाल वसु महोदय बैठे हुए हुक़्क़ा पी रहे थे। उनके पास ही बैठकर दीवान सदाशिव बातचीत कर रहे थे। थोड़ी-सी ज़मीन के बारे में चौधरी-परिवार से वसु महोदय का झगड़ा चल रहा था। उस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए और किस तरह से अपना पक्ष प्रबल बनाया जा सकता है, इसी बात का परामर्श हो रहा था। वसु महोदय ने कहा—देखो सदाशिव, मैंने ही यह ज़मींदारी बनाई है। इधर लड़के की ऐसी बुद्धि है कि इसकी रक्षा कर सकेगा, यह मुझे नहीं समझ पड़ता। इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है?

दीवान ने कहा—मैं तो उसे छुटपन से देख रहा हूँ। इस समय उसके ऊपर आपको क्रोध आगया है, इसी लिए ऐसा कह रहे हैं। परन्तु हमारा सन्तू ऐसा लड़का नहीं है, यह बाद को आपको मालूम होगा।

एक लम्बी साँस लेकर वसु महोदय ने कहा—यह कैसे कहा जा

सकता है सदाशिव ? उसका व्यवहार देखकर तो किसी प्रकार का भरोसा ही नहीं होता।

सदाशिव ने कहा—अपने इस प्रकार के आचरण के कारण वह क्या सुखी हुआ है ? इस बात को चाहे वह आज न समझे, किन्तु बाद को समझेगा। सम्भव है कि उस समय वह पश्चात्ताप के मारे आपके पास क्षमा माँगने के लिए दौड़ा आवे।

"तब तक शायद मैं जीता ही न रहूँ !"

"यह तो दूसरी बात है।"

इतने में दरवान आया और बाबू साहब के सामने चिट्ठी-पत्री रख कर चला गया। दीवान सदाशिव ने कहा—तो मैं एक बार उस ओर घूम आऊँ। दीनू मोड़ल ने इधर चार-पाँच साल से लगान नहीं दिया। आज के लिए उसने वादा किया है। काशीनाथ को उसके पास भेज आऊँ।

वसु महोदय ने कहा—उस साले के ऊपर नालिश क्यों नहीं कर देते ? यदि वह असमर्थ होता तो मैं छोड़ भी देता। परन्तु ऐसी बात तो नहीं है। साला शराब पीकर गली-गली मौज उड़ाता फिरता है, और जब लगान देना होता है तब उसके पास पैसे ही नहीं रह जाते।

"वह तो आज कई साल से ऐसा ही कर रहा है।" यह कह कर दीवान जी चले गये।

वसु महोदय एक एक करके चिट्ठियाँ पढ़ने लगे। अन्त में एक चिट्ठी खोल कर पढ़ते पढ़ते उनका मुँह लाल हो गया। वह चिट्ठी हाथ में लेकर वे कुछ क्षण के लिए अन्यमनस्क हो गये। वह चिट्ठी इलाहाबाद से सन्तोष की बुआ ने लिखी थी।

"श्रीचरणकमलेषु,

भैया, मैं विशेष कारण से आपको पत्र लिख रही हूँ। आशा करती हूँ कि मैं जो कुछ लिखूँगी उससे आप दुःखी न होंगे। वहाँ से आने पर कलकत्ते के एक आत्मीय का मुझे एक पत्र मिला है। उस पत्र में सन्तोष

के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसके कारण मैं बहुत चिन्तित हो उठी हूं। मैं वहाँ जब तक रही हूँ तब तक यह बराबर देखती रही कि उसकी चाल-ढाल अच्छी नहीं है। सोहागरात के दिन मैंने उससे बहुत अनुनय-विनय की। बाद को मुझे बड़ा क्रोध आया और मैंने उसे बड़े ज़ोर से डाँटा। तब वह किसी प्रकार भीतर सोने के लिए तैयार हुआ था। उसी रात को उसने मुझसे यह भी प्रतिज्ञा करवाई थी कि भविष्य में मैं उससे इस विषय में आग्रह न करूँ।

"मुझे जहाँ तक विश्वास है, सन्तोष कलकत्ते से यदि हटाया न गया तो बहू का भविष्य बहुत ख़राब हो जायगा। परन्तु सन्तोष के ऊपर शासन करने का परिणाम अच्छा न होगा। आप ज्ञानी हैं। आपको उपदेश देना मेरी धृष्टता होगी। आप उसे बुलाकर ज़रा अच्छे ढंग से समझा दीजिए कि ब्राह्म या विलायत से लौटे हुए आदमी की कन्या के साथ विवाह करना हमारे हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। मेरे आत्मीय ने लिखा है कि सन्तोष ने आज-कल कालेज जाना भी छोड़ रक्खा है। वह तो घर से निकलता भी नहीं। आपको इस समय वही काम करना चाहिए जिससे उसका हर प्रकार से मंगल हो। सन्तोष को किस प्रकार से उन लोगों के सम्पर्क से पृथक् रक्खा जा सकता है, इस विषय में विशेष सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। वह अब भी बालक है, अपने भविष्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता अन्त में क्या वह फिर से विवाह करके समाज के सामने आपका ऊँचा मस्तक नीचा कर देगा? और अधिक क्या लिखूं। आप और भाभी जी मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिएगा। बहू को मेरा स्नेहपूर्ण आशीर्वाद कहिएगा। उसके लिए मैं बहुत उत्कण्ठित हूं। इस विषय में अधिक लिखना निरर्थक है। बहू को कह दीजिएगा कि उसकी चिट्ठी का उत्तर शीघ्र ही दूँगी। इति।

आपकी स्नेहपात्री

महामाया।"

वसु महोदय बहन का पत्र पढ़कर चिन्ता में पड़ गये। क्या करना चाहिए, यह वे किसी प्रकार ठीक ही न कर सके। कुछ देर तक वे किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर बैठे रहे। बाद को उन्होंने निश्चय किया कि तार देकर सन्तोष को बुला लेना चाहिए, आने पर उसे समझाने का प्रयत्न किया जाय। देखें, वह क्या कहता है। उहोंनें अर्दली से तार का एक फ़ार्म मँगवाया और उस पर सन्तोष को घर आने को लिख कर उसे तार घर में भेज दिया।

नवाँ परिच्छेद

उपदेश

बड़े ज़ोरों की गर्मी थी। दो पहर रात व्यतीत हो चुकी थी। वायु नाम तक को नहीं चल रही थी। पूर्व के आकाश में चन्द्रमा उदित हो आये थे। उनकी किरणें चाँदी की चद्दर-सी बिछाकर चारों दिशाओं को उज्ज्वल कर रही थीं। एक घर के बरामदे में एक युवा पुरुष खड़ा था। ज्योत्स्ना के प्रकाश में अनिमेष दृष्टि से वह यमुना की तरङ्गों का नर्तन देख रहा था।

वह युवा सन्तोष था। चन्द्रमा के प्रकाश में उसने देखा कि समीप ही पिता जी खड़े हैं। उस समय उसकी चिन्ता का वेग इतना प्रबल था कि वह पिता के आगमन की आहट नहीं पा सका था। ज़रा दूर आगे बढ़ते ही उसने सुना कि पिता उसे बुला रहे हैं। उसके समीप आते ही वसु महोदय ने कहा—"सन्तोष, तुमसे थोड़ी-सी बातें कहनी हैं। क्या इस समय तुम सुनोगे?" सन्तोष ने मस्तक हिला कर अपनी सहमति सूचित की। तब वसु महोदय ने वहीं पर उसे बैठने को कहा और स्वयं भी उसके पास ही बैठ गये।

सन्तोषकुमार पिता का तार पाकर गाँव आया था। उसको आये जब दो दिन बीत गये तब सदाशिव से उसने कहा—"पिता जी ने मुझे क्यों बुलाया है, यह बात अब भी उन्होंने मुझे नहीं बतलाई। कल ही मैं चला जाऊँगा।"

सदाशिव ने वसु महोदय के पास जाकर यह बात कह दी। उन्हें जब मालूम हुआ कि सन्तोष कलकत्ता लौट जानेवाला है तब उसे वे खोजने के लिए आये। सामने ही बरामदे में वह उन्हें मिल गया। वसु महोदय

ने उसे बैठने को कहा। पिता-पुत्र दोनों ही चुप रहे। सन्तोष अपने आप कुछ बोलेगा, यह आशा उन्हें नहीं दिखाई पड़ी। उनका सन्तोष आज इतना पराया हो गया कि वह दो बातें करके भी उन्हें नहीं तृप्त करना चाहता ! उनकी आँखों में आँसुओं की धारा इतने प्रबल वेग से उमड़ पड़ी कि उसका संवरण करना उनके लिए असम्भव हो गया। पुत्र के मुँह की ओर दृष्टि फेरकर उन्होंने कहा——सन्तू, क्या तू कल चला जायगा ?

कातर स्वर से सन्तोष ने कहा——इच्छा तो है। अधिक समय तक रुकने से पढ़ाई में हानि होगी।

वसु महोदय का वक्ष भेदकर एक व्यथित निःश्वास वायु में मिल गया। उन्होंने रुद्धप्राय कण्ठ से कहा——मैं चाहता हूँ कि तू अभी से ही जमींदारी का थोड़ा-बहुत काम देख लिया कर। मैं वृद्ध हो चला हूँ, शरीर में बल भी नहीं रह गया है, अधिक समय तक जीवित रह सकूँगा, यह नहीं मालूम पड़ता। इसके सिवा तुझे तो डाक्टरी पढ़ने की इतनी अधिक आवश्यकता भी नहीं है। तुझे आहार-वस्त्र की तो कोई चिन्ता है नहीं, अतएव यदि अभी से ही तू थोड़ा-बहुत काम-काज देखने लगे तो बाद को कोई झंझट न मालूम पड़ेगा। इसी लिए तुझसे कहता हूँ कि अब पढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

पिता जी आज इस प्रकार विशेष स्नेह किस मतलब से प्रकट कर रहे हैं, यह बात सन्तोष से छिपी न रह सकी। वे उसे अपने पास क्यों रखना चाहते हैं, यह भी उसने समझ लिया। जो पिता बाल्य-काल से ही इस ओर विशेष ध्यान रखता आया है कि कहीं पुत्र के पढ़ने-लिखने में किसी प्रकार का विघ्न न होने पावे, वही आज उससे कह रहा है कि अब पढ़ने-लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। सन्तोष ने सोचा कि यह सब कुछ नहीं है, सुषमा से मुझे दूर रखना ही उनका एकमात्र उद्देश है।

पुत्र को मौन देखकर वसु महोदय ने कहा——क्या तुझे यह पसन्द नहीं है।

सन्तोष ने दृढ़ कंठ से कहा---अब अधिक समय तो लगेगा नहीं। थोड़े दिनों तक परिश्रम करके यदि पास कर सकता हूँ तो उसे अधूरा क्यों रक्खूं ?

वसु महोदय ने कहा---ज़मींदारी का काम सीखना भी तो आवश्यक है। वह भी तो यों ही नहीं आ जायगा।

"वह सब मुझसे किसी काल में भी नहीं हो सकेगा बाबू जी। मैं उसे जीवन-पर्य्यन्त न समझ सकूँगा। आप हैं, दादाभाई हैं।"

दादाभाई से उसका तात्पर्य्य था दीवान सदाशिव से। सन्तोष बाल्य-काल से ही उन्हें दादाभाई कहकर पुकारता आया है।

सन्तोष के मुँह की ओर दृष्टि स्थिर रखकर वसु महोदय ने कहा---सन्तोष, तुझसे इस तरह का उत्तर पाऊँगा, यह आशा मैंने कभी नहीं की। किसी भी कार्य के सम्बन्ध में असमर्थता प्रकट करना क्या पुरुष के लिए लज्जा का विषय नहीं है ? तू मूर्ख नहीं है, पढ़ा-लिखा है। तेरे मुंह से यह बात शोभा नहीं देती। इसके सिवा, बेटा, तुझे छोड़ कर मेरे और कोई है नहीं, यह भी तुझे मालूम है। इस वंश की सारी मान-मर्य्यादा तेरे ही ऊपर निर्भर है। इस ओर यदि तू ध्यान नहीं देता तो क्या पिता-पितामह की कीर्ति नष्ट कर देना चाहता है ? यह क्या तेरे लिए गौरव की बात होगी ? तू ही मेरा एकमात्र वंश-रक्षक है। दूसरा कोई है नहीं, जिसके द्वारा इस अभाव की पूर्ति कर लूँ। बेटा, अब भी समझ जा। मेरा सभी कुछ तेरे ही ऊपर निर्भर है। तू अब लड़का नहीं है। पढ़ा-लिखा है, हर एक बात को सोच-समझ सकता है। इस समय तेरे जो विचार हैं वे कल्याणकारी नहीं हैं।

"तो भला मैं क्या करूँ ? यह सब तो मैं बिलकुल ही नहीं समझता।"

ज़रा देर तक चुप रह कर करुण कंठ से उन्होंने फिर कहा---छि: ! बेटा, ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। यह सब तू न देखेगा तो भला और कौन देखेगा ? दूसरी बात यह भी है कि तू अब अकेला नहीं रह गया है। तूने विवाह कर लिया है। उसके प्रति भी तेरा कुछ कर्त्तव्य है ? तू मेरे

ऊपर क्रुद्ध हो सकता है, परन्तु उसने क्या किया है? उसका तो कोई अपराध नहीं है। सन्तू, भैया मेरे, अब भी तू समझने की कोशिश कर। बुढ़ापे में मुझे और—आगे उनके मुंह से और कोई शब्द न निकल सका।

यह सुनकर सन्तोष ने रुद्धप्राय स्वर से कहा—"बाबू जी, मुझे क्षमा कीजिएगा। मैं आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करता आया हूँ, केवल ....." सन्तोष का गला रुँध गया। धीरे-धीरे उठ कर वह चला गया। वसु महोदय उसी तरह अकेले ही बैठे-बैठे बड़ी देर तक सोचते रहे। बालिका की भावी दुःखमय अवस्था का अनुभव करके अनुताप से उनका हृदय परिपूर्ण हो उठा। उस रात को उन्हें फिर नींद नहीं आ सकी।

दूसरे दिन सन्तोषकुमार दोपहर को अन्तःपुर में गया। उसे देखते ही ताई जी ने पूछा—तो क्या तू आज ही कलकत्ते चला जायगा?

सन्तोष ने धीमी आवाज़ में उत्तर दिया—तुम्हें किसने बतलाया?

ज़रा-सा मुस्कराकर ताई जी ने कहा—तुमने नहीं बतलाया तो क्या मैं सुन ही नहीं सकती थी? अभी कुल दो ही दिन तो तुझे यहाँ आये हुए। आज ही चलने को भी तैयार हो गया!

इस बात के उत्तर में सन्तोष ने कहा कि यहाँ रहने पर मेरी तबीअत अच्छी नहीं रहती। इसके सिवा यहाँ रहने में लाभ ही क्या है? केवल झमेला ही तो लगा रहता है।

सन्तोष की यह बात ताई जी के हृदय में बहुत तेज़ बाण की तरह बिंध गई। एक आह भर कर उन्होंने कहा—यह कैसी बात कहता है सन्तू? भला ऐसा भी कहीं हो सकता है? घर में रहने से कहीं तबीअत खराब हो जाती है? बेचारी बहू मुँह सुखाये बैठी रहती है। उसे उदास देखकर हम लोग कितने दुःखी होते हैं, यह क्या तू समझ सकेगा? राजरानी होकर भी दुलारी हमारी सब कुछ त्याग कर बैठी है, क्या तू यह देखता है? ऐसा करके और न जला सन्तू, मेरा राजा भैया तो। एक बार अपने बाबू जी के चेहरे पर दृष्टि डालकर तो देख! छिः! छिः! तू इस तरह का हो कैसे गया?

तेरी तो बुद्धि ही जाती रही। जिस एक पराई लड़की को तूने गले से बाँध रक्खा है उसकी चिन्ता तो करनी ही चाहिए।

ताई जी की बात काटकर सन्तोष ने कहा—इतनी बातें तो कह गई हो, लेकिन यह नहीं देखती हो कि दोष किसका है। मैंने तो पहले ही बतला दिया था। अब मुझसे यह सब कहने की क्या आवश्यकता है? तुम सब लोग मिल कर यदि मुझे इस तरह तङ्ग करते रहोगे तो भाई बतलाये देता हूँ, मामला ठीक न होगा। अभी तो मैं घर आ भी जाया करता हूँ, किन्तु यदि इसी तरह की बातें जारी रहीं तो इस ओर देखूँगा भी नहीं।

सन्तोष की यह बात सुनकर ताई जी डर गईं। वे कहने लगीं—तू तो इतनी ही-सी बात पर क्रुद्ध हो गया। तुझे तो लोगों के सामने मुख दिखाना नहीं पड़ता। तुझे क्या बतलाऊँ? चारों ओर जो इस तरह का हँसी-ठट्ठा हो रहा है, वह क्या इस अवस्था के लोगों के सहने के योग्य है? भला बताओ तो!

सन्तोष ने कहा—जब किया है तब क्यों नहीं सोचा? अब मैं क्यों इस तरह घसीटा जा रहा हूँ? अपने कर्म का फल अपने आप भोग करो। वह चाहते थे, वह पा गये हो। अब क्या चाहिए? मुझे क्या करना है? मैं चाहूँ तो इसी क्षण यह सब छोड़कर चला जाऊँ। और मैं समझता हूँ कि शीघ्र ही मुझे ऐसा करना भी पड़ेगा। नहीं तो तुम लोगों के हाथ से छुटकारा न मिल सकेगा?

उत्तर की ज़रा भी प्रतीक्षा न करके सन्तोष तेज़ी से पैर बढ़ाता हुआ घर से बाहर निकल गया। देवर के लड़के की यह दुर्बुद्धि देखकर ताई जी सन्नाटे में आ गईं। बड़ी देर तक वे उसी स्थान पर बैठी रहीं।

दुर्भाग्यवश वासन्ती पासवाले कमरे में ही बैठी थी। वह चुपचाप बैठी बैठी पति तथा ताई जी की सारी बातें सुन रही थी। एक भी बात ऐसी नहीं हुई जो उसके कान तक न पहुँच सकी हो। ताई जी के मुँह से

उसने जब अपनी चर्चा सुनी तब उसे बड़ी लज्जा आई। वह मन ही मन सोचने लगी कि स्वामी की जो कुछ इच्छा हो, वे वही करें। ताईजी उनसे कोई बात क्यों कहती हैं ? वे यदि मुझे नहीं प्यार करते तो क्या कोई जबर्दस्ती प्यार करवा सकता है ? व्यर्थ में इस तरह की बातें कह कह-कर उन्हें चिढ़ाने की क्या आवश्यकता है ?

वासन्ती को यह नहीं मालूम था कि मेरे पतिदेव किसी और स्त्री को प्यार करते हैं। उससे यह बात किसी ने बतलाई ही नहीं। इसलिए स्वामी के चरित्र के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सका। स्वामी जो उसे प्यार नहीं करते, घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसका कारण वह कुछ और ही समझती थी। उसकी धारणा थी कि मुझे ग़रीब की लड़की समझ कर ही वे इस प्रकार उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वह मन ही मन कहने लगी--होगा। इसके लिए क्या शिकायत है ? वे यदि इसी में शान्ति पाते हैं तो उनके हृदय में अशान्ति का भाव उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता है ?

दसवाँ परिच्छेद

बिल

पुत्र के प्रतिकूल आचरण के कारण वसु महोदय का शरीर क्रमशः गिरने लगा। श्वसुर के शरीर की अवस्था देखकर वासन्ती बहुत ही चिन्तित हो उठी। वसु महोदय को अब खाने-पीने की भी इच्छा बहुत कम हुआ करती थी। इससे वासन्ती और दुखी होती। किसी किसी दिन तो वह बहुत ही अनुनय-विनय करती, रोती और खाने के लिए उनसे बहुत आग्रह करती। पुत्रबधू को सन्तुष्ट रखने के लिए वे सदा ही सचेष्ट रहा करते थे, इसलिए जो कुछ वह कहती, वे वही किया करते थे। परन्तु विधाता के विधान को अन्यथा करने की शक्ति तो किसी में है नहीं, वह होकर ही रहता है। दुश्चिन्ताओं के कारण उनका शरीर दिन दिन गिरने लगा।

एक दिन की बात है। दोपहर के समय वसु महोदय भोजन करने के लिए बैठे थे। ताई जी थाली लगा रही थीं। पास बैठी वासन्ती पंखा झल रही थी। सन्तोषकुमार कलकत्ता लौट गया था, इससे वे उस पर बहुत ही क्रुद्ध हो उठे थे। परन्तु अपना सारा क्रोध वे मन ही मन लिये रहे, इस सम्बन्ध में किसी से कोई बात उन्होंने कही नहीं।

थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी रहने के बाद वासन्ती ने कहा—बाबू जी, आप दिन दिन आहार छोड़ते जा रहे हैं, इससे आपका शरीर और खराब होता जा रहा है।

पुत्रबधू के उदास और सूखे हुए मुंह की ओर ताककर वसु महोदय ने कहा—क्या सदा ही आदमी की खूराक वैसी की वैसी ही बनी रहती है बेटी? बुढ़ाई का शरीर ठहरा! इसके सिवा, मेरे इनकार करने पर भी तो खिलाये बिना तुम प्राण छोड़नेवाली नहीं हो!

उसने जब अपनी चर्चा सुनी तब उसे बड़ी लज्जा आई। वह मन ही मन सोचने लगी कि स्वामी की जो कुछ इच्छा हो, वे वही करें। ताईजी उनसे कोई बात क्यों कहती हैं? वे यदि मुझे नहीं प्यार करते तो क्या कोई ज़बर्दस्ती प्यार करवा सकता है? व्यर्थ में इस तरह की बातें कह कह-कर उन्हें चिढ़ाने की क्या आवश्यकता है?

बासन्ती को यह नहीं मालूम था कि मेरे पतिदेव किसी और स्त्री को प्यार करते हैं। उससे यह बात किसी ने बतलाई ही नहीं। इसलिए स्वामी के चरित्र के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सका। स्वामी जो उसे प्यार नहीं करते, घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसका कारण वह कुछ और ही समझती थी। उसकी धारणा थी कि मुझे ग़रीब की लड़की समझ कर ही वे इस प्रकार उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वह मन ही मन कहने लगी—होगा। इसके लिए क्या शिकायत है? वे यदि इसी में शान्ति पाते हैं तो उनके हृदय में अशान्ति का भाव उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता है?

दसवाँ परिच्छेद

बिल

पुत्र के प्रतिकूल आचरण के कारण वसु महोदय का शरीर क्रमशः गिरने लगा। श्वशुर के शरीर की अवस्था देखकर वासन्ती बहुत ही चिन्तित हो उठी। वसु महोदय को अब खाने-पीने की भी इच्छा बहुत कम हुआ करती थी। इससे वासन्ती और दुखी होती। किसी किसी दिन तो वह बहुत ही अनुनय-विनय करती, रोती और खाने के लिए उनसे बहुत आग्रह करती। पुत्रवधू को सन्तुष्ट रखने के लिए वे सदा ही सचेष्ट रहा करते थे, इसलिए जो कुछ वह कहती, वे वही किया करते थे। परन्तु विधाता के विधान को अन्यथा करने की शक्ति तो किसी में है नहीं, वह होकर ही रहता है। दुश्चिन्ताओं के कारण उनका शरीर दिन दिन गिरने लगा।

एक दिन की बात है। दोपहर के समय वसु महोदय भोजन करने के लिए बैठे थे। ताई जी थाली लगा रही थीं। पास बैठी वासन्ती पंखा झल रही थी। सन्तोषकुमार कलकत्ता लौट गया था, इससे वे उस पर बहुत ही क्रुद्ध हो उठे थे। परन्तु अपना सारा क्रोध वे मन ही मन लिये रहे, इस सम्बन्ध में किसी से कोई बात उन्होंने कही नहीं।

थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी रहने के बाद वासन्ती ने कहा—बाबू जी, आप दिन दिन आहार छोड़ते जा रहे हैं, इससे आपका शरीर और ख़राब होता जा रहा है।

पुत्रवधू के उदास और सूखे हुए मुंह की ओर ताककर वसु महोदय ने कहा—क्या सदा ही आदमी की ख़ूराक वैसी की वैसी ही बनी रहती है बेटी? बुढ़ाई का शरीर ठहरा! इसके सिवा, मेरे इनकार करने पर भी तो खिलाये बिना तुम प्राण छोड़नेवाली नहीं हो!

एक हलकी आह भर कर वासन्ती ने कहा--आप शरीर की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देते बाबू जी, इसलिए आपका शरीर और भी ख़राब होता जा रहा है। आपकी इस अवस्था के कारण हमें बड़ा भय हो रहा है।

वसु महोदय ने कहा--इसमें डरने की कौन-सी बात है बिटिया ! मेरा शरीर आजकल ज़रा कुछ खराब रहता है, थोड़े ही दिनों में ठीक हो जायगा। इसमें घबराने की कौन-सी बात है बिटिया ?

आँसुओं के आवेग से वासन्ती का कण्ठ रुँध गया। किसी प्रकार अपने को सँभाल कर उसने कहा--बाबू जी, आप हमारे भविष्य की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देते। आपके चले जाने पर हमारी क्या दशा होगी ? और वह कुछ कह न सकी। आँसुओं ने उसका कण्ठ रुद्ध कर दिया।

वासन्ती को सान्त्वना देते हुए वसु महोदय ने कहा--क्या ज़रा-सा शरीर ख़राब हो जाने से ही कोई आदमी मर जाता है बिटिया ? तुम मेरे लिए चिन्ता मत करो। परन्तु मुझे यह बहुत बड़ा दुःख रह ही गया कि बिटिया, मैंने किया तो तुम्हें सुखी करने का प्रयत्न, किन्तु कर दिया बहुत दुःखी। यह कष्ट मुझे साथ में लेकर ही जाना पड़ेगा।

वासन्ती ने स्निग्ध कण्ठ से कहा--आप यह बात क्यों कह रहे हैं बाबू जी। आपके पास आकर मैं बहुत ही सुखी हुई हूँ। आपको उसके लिए दुःख क्यों हो रहा है ?

उस प्रसङ्ग को रोक देने के लिए वसु महोदय ने कहा--चलो बिटिया, हम लोग थोड़े दिन तक कहीं हवा खा आवें और तुम अपने इस 'बच्चे' को मोटा कर ले आओ।

वासन्ती प्रसन्न हो गई। उसने कहा--बहुत अच्छी बात है बाबू जी। यह आपने अच्छा सोचा है। इससे आपकी तबीअत भी बहल जायगी और शरीर भी सुधर जायगा। यह कहकर उसने फिर पूछा--तो कहाँ चलने का विचार है ?

"यह तो अभी नहीं ठीक किया बिटिया, लेकिन चलना जल्द ही होगा। मुझे भी यह अनुभव हो रहा है कि आज-कल मेरी तबीअत कुछ खराब है।

ताई जी ने कहा——काशी या इसी प्रकार के अन्य किसी स्थान में चला जाय तो क्या ठीक न होगा ?

वसु महोदय ने कहा——अच्छा तो है। काशी ही चला जाय। अभी से ही थोड़ी-बहुत तैयारी कर लेनी चाहिए। इस क़िस्त का हिसाब-किताब तय करके निकल पड़ना चाहिए।

भोजन से निवृत्त होने के बाद वसु महोदय बैठक में चले गये। वासन्ती वहीं पर बैठ कर चुपचाप अपने भाग्य पर विचार करने लगी। वह सोचने लगी कि श्वशुर की मृत्यु हो जाने पर मेरी क्या दशा होगी। जिसकी दया से आज मैं राजराजेश्वरी बनी बैठी हूँ, उसी के अभाव में कदाचित् फिर मुझे आश्रय के लिए भटकना पड़ेगा। यही चिन्ता उसे कई दिनों से उद्विग्न कर रही थी।

सन्तोषकुमार अत्यधिक हठ के ही कारण कलकत्ते चला गया। वसु महोदय ने उसे बहुत रोका था, परन्तु वह किसी प्रकार भी घर रहने को तैयार नहीं हुआ। उसके चले जाने पर वसु महोदय ने मन ही मन यह स्थिर किया कि यदि कहीं मेरी मृत्यु हो गई और वासन्ती सन्तोष के हाथ में पड़ गई तो उसकी बड़ी दुर्दशा होगी। सन्तोष की यह दुर्मति जब तक दूर नहीं होती तब तक वासन्ती का भविष्य बहुत ही अन्धकारमय बना रहेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि मैं अपने जीवनकाल में ही उसके लिए कोई पक्का प्रबन्ध कर दूँ, अन्यथा बाद को सन्तोष कहीं उसे घर से बाहर न कर दे। जिसने विवाहिता पत्नी की इस प्रकार की उपेक्षा कर रक्खी है उसके लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। उसका हृदय आज भी अनादि बाबू की कन्या के ही प्रति आकर्षित है। बहुत सम्भव है कि मेरी मृत्यु हो जाने पर वह उसके साथ विवाह भी कर ले। कदाचित् वह मेरी मृत्यु की ही प्रतीक्षा में रुका भी है।

यह भी सम्भव है कि विवाह करके वह कलकत्ते में ही बस जाय, गाँव की ओर एक बार दृष्टि फेर कर देखे भी न। तब तो पूर्वजों का घर और राधावल्लभ का मन्दिर आदि नष्ट ही हो जायगा।

तीन-चार दिन के बाद वसु महोदय के यहाँ विपिन बाबू तथा तीन-चार अन्य सज्जन आकर उपस्थित हुए। उन सबसे परामर्श करके उन्होंने एक दान-पत्र तैयार किया। उस दान-पत्र के द्वारा उन्होंने अपनी सारी जमींदारी, कोठियाँ तथा अन्य प्रकार की स्थावर और जंगम सम्पत्ति का वासन्ती को ही उत्तराधिकारी बना दिया। सन्तोषकुमार के लिए उन्होंने उसमें कोई व्यवस्था नहीं की। साधारण भत्ता भी नहीं नियत किया। ताई जी के लिए यह व्यवस्था हुई कि उन्हें जीवनपर्य्यन्त दो सौ रुपये मासिक मिलते रहेंगे। घर में ही वे रहेंगी। तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य या अन्य धार्मिक कृत्यों के लिए वे रियासत से स्वतन्त्र वृत्ति पावेंगी। वसु महोदय ने उस दान-पत्र के द्वारा वासन्ती को सम्पत्ति का दान तथा विक्रय तक करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार उन्होंने पुत्रबधू को ही सारी सम्पत्ति की एकमात्र स्वामिनी बना दिया और यह भी लिख दिया कि इनकी अनुमति के बिना कोई कुछ भी न कर सकेगा, यदि कोई कुछ करेगा भी तो वह नियमित न माना जा सकेगा।

दानपत्र लिखकर वसु महोदय ने वृद्ध दीवान जी तथा कलकत्ते से आये हुए चार महानुभावों को साक्षी बनाकर उस पर स्वयं हस्ताक्षर किया और रजिस्ट्री करवाने के लिए एटर्नी को दे दिया। उन्होंने उससे यह भी कह दिया कि रजिस्ट्री करवा कर इसे तुम अपने ही पास रक्खे रहो, मेरी मृत्यु होने पर जब श्राद्ध आदि हो जाय तब इसे वासन्ती को देना। इससे पहले हम लोगों को छोड़ कर और किसी के भी कान में यह बात न पड़ने पावे। दूसरे दिन वह दानपत्र लेकर वे लोग चले गये। दीवान सदाशिव ने एक बार कहा था कि सन्तोष को सम्पत्ति से बिलकुल ही वञ्चित कर देना उचित न होगा। इसके उत्तर में वसु महोदय ने कहा—हमारे पिता-पितामह के पवित्र स्थान में कोई विलायत से लौटे

हुए आदमी की कन्या आकर इसे अपवित्र करे, यह मेरे लिए असह्य है। यदि कहीं ऐसा हुआ तो मेरी आत्मा को बड़ा क्लेश मिलेगा, स्वर्ग में जाकर भी मैं शान्ति न पा सकूँगा। इसके अतिरिक्त सन्तोष मूर्ख भी नहीं है, वह पढ़ा-लिखा है, अपने निर्वाह के लिए बहुत कुछ कमा लेगा। यह बात सुनते ही दीवान जी चुप हो गये, फिर उन्होंने इस बात की चर्चा नहीं की।

दान-पत्र तैयार हो जाने पर वसु महोदय मानो बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये। इस दान-पत्र के सम्बन्ध में उन्होंने भौजाई या वासन्ती को कोई भी बात नहीं बतलाई। वासन्ती वृद्ध की सेवा में तन-मन से लगी रहती, वृद्ध श्वशुर को सुखी करने के लिए असाध्य साधना करके भी वह तृप्ति का अनुभव नहीं करती थी।

वासन्ती कभी किसी प्रकार का बनाव-शृङ्गार नहीं करती थी। वह सदा ही बहुत सादी पोशाक में रहती थी। साथ ही उसकी मुखाकृति पर प्रसन्नता की रेखा भी कभी नहीं दिखाई पड़ती थी। उसकी इस मलिन छवि पर दृष्टि पड़ते ही वसु महोदय हृदय में अपार वेदना का अनुभव करते थे। उन्होंने सोचा था कि दो दिन के बाद ही सन्तोष को अपनी भूल मालूम हो जायगी और वह मन ही मन दुःखी होकर क्षमा माँगने के लिए आवेगा। परन्तु इसका कोई लक्षण न दिखाई पड़ा। तब उन्होंने पुत्र को बुलाकर उपदेश किया, समझाया-बुझाया, उसे डाँट-फटकार बतलाई। किन्तु इसका भी उस पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ा। अन्त में वे निराश हो गये। अब वे यह अनुभव करने लगे कि मैंने वासन्ती के प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है। उन्होंने वासन्ती को बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण दिये थे, परन्तु उन्हें वह अनावश्यक समझती रही, उनका वह कोई उपयोग नहीं करती थी। वह फटे-पुराने कपड़े पहनकर ही दिन काटा करती थी। वासन्ती की इस प्रकार की अशान्तिमय मानसिक अवस्था तथा मलिन वेश-भूषा देखकर वसु महोदय भी बहुत दुःखी होते थे। उन्होंने दो-एक बार

इस सम्बन्ध में वासन्ती से पूछा भी। इससे वह इधर थोड़े दिनों से श्वशुर को प्रसन्न करने के लिए उनके सामने जाते समय कुछ अच्छे कपड़े और दो-चार गहने भी पहन लिया करती थी, किन्तु शायद संसार की अवस्था से अनभिज्ञ वासन्ती यह नहीं जानती थी कि गुरुजनों से सत्य छिपाया नहीं जा सकता।

वासन्ती को सुखी करने के लिए वसु महोदय अपनी शक्ति भर कुछ उठा नहीं रखते थे। वासन्ती से भी जहाँ तक बन पड़ता, वह अपनी अवस्था उनसे छिपाये ही रखने का प्रयत्न किया करती थी। वे दोनों ही श्वशुर और पुत्रवधू एक-दूसरे से अपनी अवस्था छिपा कर ही रखना चाहते थे। परन्तु वसु महोदय के हृदय में वासन्ती की हीन और मलिन मूर्ति बाण की तरह चुभा करती थी। लाख प्रयत्न करके भी वासन्ती उसे छिपा नहीं सकती थी। निर्मम और असह्य यन्त्रणा के कारण किसी किसी दिन वसु महोदय के हृत्पिण्ड की क्रिया तो मानो बन्द-सी हो जाया करती थी; वे किसी प्रकार भी अपने को सँभाल नहीं पाते थे। ताई जी दिन दिन देवर के शरीर को इस तरह गिरते देखकर बहुत चिन्तित हो रही थीं। वे छिपाकर कभी कभी सन्तोष को पत्र भी लिखा करती थीं और हर एक पत्र में उससे यही आग्रह करतीं कि तुम घर चले आओ। परन्तु आना तो दूर रहा, वह किसी पत्र का उत्तर तक नहीं देता था।

समय जिस तरह बीत रहा था, उसी तरह बीतता गया। उसने किसी की ओर ध्यान न दिया। श्वशुर के शरीर की अवस्था देखकर वासन्ती पश्चिम की ओर जाने के लिए बहुत व्यग्र हो रही थी, किन्तु घर-गृहस्थी के झंझटों तथा तरह तरह के बाधा-विघ्न के कारण यात्रा का दिन क्रमशः पीछे हटने लगा। अन्त में एक दिन वसु महोदय ने कहला भेजा कि आसाढ़ मास की अमावस्या के आस-पास काशी-यात्रा का दिन स्थिर हुआ है। तब वासन्ती की दुश्चिन्ता बहुत कुछ दूर हो गई।

———

ग्यारहवाँ परिच्छेद

रास्ते में मुलाक़ात

एक दिन की बात है। कुछ आवश्यक चीज़-वस्तु ख़रीदने के लिए सन्तोष बाहर निकला था। बाजार से निवृत्त होने पर वह धर्मतल्ला की मोड़ पर आकर खड़ा हो गया और ट्राम की राह देखने लगा। इतने में पीछे से एक मोटर की आवाज़ सुनाई पड़ी। वह उतावली के साथ एक किनारे की ओर हट रहा था कि एकाएक आरोही की ओर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने देखा तो उस मोटर में सुषमा बैठी थी वह मुस्कराती हुई उसी की ओर ताक रही थी। सुषमा की दृष्टि से दृष्टि मिलते ही सन्तोष ने उसकी ओर से अपनी दृष्टि फेर ली। क्षण ही भर के बाद उसने फिर देखा तो सुषमा उसे बुला रही थी।

रास्ते में सन्तोष को देखते ही सुषमा ने मोटर खड़ी कर दी थी। उसने उसे मोटर में बैठाल लिया और कहने लगी—कहिए सन्तोष भाई, आप यहाँ कैसे ?

सुषमा को सामने देखकर सन्तोष लज्जा के मारे गड़ा जा रहा था। उसके जी में आता था कि मैं इसी समय मोटर पर से उतर जाऊँ, किन्तु पैर मानो उठना ही नहीं चाहते थे। बहुत दिनों के बाद सुषमा को देखकर मानो उसका शरीर सामर्थ्यहीन होता जा रहा था, उसके मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था, जिह्वा सूखी जा रही थी। वह किसी प्रकार भी अपनी अवस्था को छिपा नही सकता था। सुषमा उसका आन्तरिक भाव बहुत कछ ताड़ गई और कहने लगी—कुछ बोलते क्यों नहीं है ? क्या हम लोगों से रुष्ट हो गये हैं ?

बड़ी देर के बाद किसी तरह अपने को सँभालकर रुँधे हुए कण्ठ से सन्तोष ने कहा—क्या बोलूँ, कोई ऐसी बात तो है नहीं।

सुषमा कुछ आश्चर्य में आ गई। वह कहने लगी——क्यों सन्तोष भाई, ऐसी कोई बात ही नहीं है जो कही जा सके ?

सन्तोष ने कम्पित कण्ठ से कहा——नहीं, अब मेरे पास कहने को कुछ नहीं रह गया है, सब समाप्त हो चुका।

सुषमा ने मुस्कराहट के साथ कहा——वाह सन्तोष भाई, यह कैसी बात है ? आपने विवाह कर लिया और हम लोगों को ज़रा-सी ख़बर तक न दी। क्या हम लोग इतने पराये हो गये हैं ?

सन्तोष को निरुत्तर देखकर सुषमा फिर बोली——ख़बर नहीं दी तो न सही, इससे कोई हानि नहीं है, किन्तु भाभी जी से एक बार मुलाक़ात तो करा दीजिए। मेरे हृदय में इस बात की अत्यन्त अभिलाषा है कि मैं उनसे मिलकर ज़रा-सा बातचीत करूँ।

बड़ी देर के बाद सन्तोष ने कहा——ख़बर क्या देता सुषमा ?

"क्यों, क्या वहाँ हम लोगों के जाने से आपकी कोई हानि होती ?"

"नहीं, यह बात नहीं थी।"

"तो ?"

सन्तोष ने दबी आवाज से कहा——यों ही इच्छा ही नहीं हुई।

सुषमा ने विस्मित स्वर से कहा——इसका मतलब ?

"मतलब क्या है ? वहाँ जाकर ही तुम क्या करतीं ?"

सुषमा खिलखिला कर हँस पड़ी। उसने कहा——तब की बात तो तब थी। अब आपसे बतलाने में ही क्या लाभ है ? आइए, अब घर चलें। मा आपके लिए बहुत अधीर हो रही हैं। आप आज-कल आते क्यों नहीं ?

सुषमा को देखते ही सन्तोष का दुःख नया हो आया। उसमें इतनी भी शक्ति न रह गई कि वह ठीक ठीक बात कर सके। भर्राई हुई आवाज़ से उसने कहा——अब मैं न चल सकूँगा सुषमा।

"क्यों ?"

"पता नहीं, क्यों ? कहीं जाना अच्छा ही नहीं लगता।"

सुषमा ने विस्मित भाव से कहा—अच्छा क्यों नहीं लगता भाई ? क्या विवाह हो जाने पर कोई दूसरों के यहाँ का आना-जाना ही बन्द कर देता है ?"

कितनी वेदना सहकर सन्तोष ने पिता के गृह का परित्याग किया है ! उसकी इच्छा थी कि वह सारा हाल सुषमा को बतला दे। परन्तु बतलावे कैसे ? बार बार सोचने पर भी उसे कोई ऐसा उपाय नहीं सूझ पड़ा।

सन्तोष मन ही मन सोचने लगा कि मैं तो जल जलकर मर ही रहा हूँ, क्या अब सुषमा को भी मेरे साथ जलना पड़ेगा ? इससे तो यह कहीं अच्छा था कि मैं दूर से ही उसकी मूर्ति का ध्यान करते करते दिन काट देता। क्या वह अभी तक परिस्थिति को समझ नहीं पाई ? सुषमा का भाव देखकर तो कोई ऐसी बात नहीं मालूम पड़ती कि मेरे विवाह का समाचार पाकर वह दुःखी हुई है ! वह तो अब भी आनन्द कर रही है। वेदना का कोई चिह्न ही उसके मुख-मण्डल पर नहीं उदित हुआ है। तो क्या सुषमा मुझसे प्रेम नहीं करती थी ? क्या मैं इतने दिनों तक अपने हृदय में एक मिथ्या आशा का पोषण करता आया हूँ ? न, यह हो ही नहीं सकता। मेरा मन तो इस समय भी यही कह रहा है कि सुषमा मुझसे प्रेम करती है। परिस्थिति को अभी वह समझ नहीं रही है।

सन्तोष को चुप देखकर सुषमा ने कहा—क्या सोच रहे हैं ? बात का उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं ? बतलाया नहीं कि बहू कैसी मिली। आप इस तरह के कैसे हो गये ?

विस्मित भाव से सुषमा के मुंह की ओर ताक कर सन्तोष ने कहा—किस तरह का हो गया हूँ सुषमा ?

"और नहीं तो क्या ! ठीक से बोलते नहीं हैं, बहू के बारे में कुछ नहीं बतलाते हैं। न जाने कैसे उद्विग्न से दिखाई पड़ रहे हैं ! आपकी यह अवस्था कैसे हो गई ?

एक हलकी-सी आह भर कर सन्तोष ने कहा---मुझसे कुछ न पूछो सुषमा। तुम मुझे क्षमा कर दो।

"क्यों ? क्षमा किस बात के लिए ?"

"न जाने क्यों, तुम्हारी एक भी बात का उत्तर मुझसे नहीं दिया जाता। शायद तुम मुझसे रुष्ट हो गई हो।"

सुषमा ने एक रूखी हँसी हँसकर कहा---नहीं, नहीं, रुष्ट क्यों होऊँगी ? मैं तो आप लोगों की तरह ज़रा-ज़रा-सी-बात में रुष्ट होने-वाली हूँ नहीं। अच्छा, आप सच सच बतलाइए कि भाभी आपको पसन्द आईं या नहीं।

सन्तोष ने गम्भीर कण्ठ से कहा---मेरी पसन्द या अपसन्द से क्या होना जाना है सुषमा ? पिता जी ने विवाह किया है, वे ही समझेंगे। मैं कौन होता हूँ ?

सुषमा ने संशयपूर्ण कण्ठ से कहा---यह क्या कह रहे हैं भैया ? आपके मुँह सें तो इस तरह की बात नहीं शोभा देती। आप पढ़े-लिखे हैं। आप यदि मूर्खों के-से काम करेंगे तो भला दस आदमी आपको क्या कहेंगे ? इस तरह की बात को मन में स्थान देकर क्या आप अन्याय नहीं कर रहे हैं ? वह बालिका है। उसका क्या अपराध ? उसे इस तरह उपेक्षामय अवस्था में रखना क्या उचित है ? जिस दिन वह अपनी इस अवस्था का अनुभव कर सकेगी, उस समय उसका हृदय कितनी वेदना से परिपूर्ण हो उठेगा, यह भी आपने कभी सोचा है ? जरा सोचिए तो कि आपके इस तरह के व्यवहार से कितने लोग दुःखी हो रहे हैं। सम्भव है कि यह बात आपको बहुत ही साधारण-सी जान पड़ती हो, किन्तु वास्तव में यह इतनी साधारण नहीं है। आपके वृद्ध पिता आपके व्यवहार से कितना कष्ट पा रहे हैं, क्या आपने कभी इस पर विचार किया है ? उन्हें दुःखी करना क्या आपके लिए उचित है ? सन्तान चाहे कितने भी अपराध करे, वह सब

माता-पिता नीरव भाव से सहन करते जाते हैं। सन्तान के अमङ्गल की आशङ्का से नेत्रों का जल तक रोक रखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनका हृदय कितनी वेदना से परिपूर्ण है, यह भी आपने किसी दिन सोचा है। इस वेदना का फल अवश्य ही हम लोगों को किसी न किसी दिन भोगना पड़ेगा। कर्मफल का भोग किये बिना कोई रह नहीं सकता। आप भी न रह सकेंगे।

क्षण भर चुप रहने के बाद सुषमा फिर बोली। वह कहने लगी—विवाहिता पत्नी के प्रति पुरुष का कर्त्तव्य क्या है, यह क्या आपको मालूम नहीं है ? उसकी उपेक्षा करके आप कितना बड़ा अन्याय कर रहे हैं ? उसे चाहे आप आज न भी समझ सकें; बाद को तो समझना ही पड़ेगा। उस समय आपको यह मालूम होगा कि अनुताप की पीड़ा कैसी होती है। अब भी मैं आपसे कहे देती हूँ। बुरा मानने की बात नहीं है। जो कुछ कर गये, वह कर गये, उसके लिए अब कोई उपाय नहीं है। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। आप ज़रा-सा सावधान होकर विचार कीजिए। ईश्वर पर विश्वास रखिए, एक दिन वह आपको शान्ति देगा। स्त्री को सुखी करने का प्रयत्न कीजिए, मोह त्याग दीजिए। स्मरण रहे कि मनुष्य के लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। और एक—

सन्तोष इतनी देर तक मौन भाव से सुषमा की बातें सुन रहा था। उसके शान्त होते ही लड़खड़ाती हुई आवाज़ से उसने कहा—मुझसे कुछ मत कहो, मुझसे यह नहीं होने का। इससे अधिक वह कुछ भी नहीं कह सका, चुप होकर सुषमा के मुंह की ओर ताकने लगा। उसने देखा कि सुषमा के मुख-मण्डल पर क्रोध की रेखा उदित हो आई है।

क्षण भर के बाद सुषमा ने कहा—लीजिए, आपका मकान आ गया। अब आप उतर जाइए। मैं भी चलूंगी। विलम्ब हो गया है। मा मेरी राह देख रही होंगी। आप तो कभी आये ही नहीं।

मोटर द्वार पर आकर खड़ी होगई। सन्तोष उस समय सोच रहा था, सुषमा को यह समझा दूं कि मैं क्यों नहीं उसके यहाँ जा सका, कितने कष्ट से मैंने उसके परिवार से सारा सम्पर्क छोड़ रक्खा है। क्या यह सुषमा समझ सकती है! वह यदि यह सब समझ पाती तो क्या इस तरह की बात कर सकती थी?

सन्तोष की विचार-धारा में व्याघात डालते हुए सुषमा ने कहा—घर आ गया है। उतरिए। इतना क्या सोच रहे हैं?

मोटर पर से उतर कर सन्तोष खड़ा हो गया। सुषमा ने कहा—तो अब चलती हूँ सन्तोष भाई। कह नहीं सकती कि अब कब तक मुलाक़ात होगी।

सुषमा ने सोफ़र से घर चलने को कहा। मोटर चल पड़ी। अब सन्तोष के मन में यह बात आई कि सुषमा को ज़रा-सा रुक जाने को कहूं। क्षण भर तक उसे और जी भर कर देख लूं। क्या उससे फिर कभी मुलाक़ात हो सकेगी? सम्भव है कि यही अन्तिम भेंट हो।

एकान्त में बैठकर सन्तोष सुषमा के ही सम्बन्ध की तरह तरह की बातें सोचने लगा।

बारहवाँ परिच्छेद

पिता का वियोग

रात्रि का दूसरा प्रहर व्यतीत हो चुका था। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के प्रगाढ़ अन्धकार से चारों दिशायें समाच्छादित थीं। आकाश में उदित होकर तारों का समूह क्षीण आलोक का वितरण कर रहा था। सारे गाँव में निस्तब्धता थी। समस्त दिन जो जन-कोलाहल मचा रहता था, उस समय उसका नाम तक न था। कहीं कहीं दो-एक पथिक अवश्य उस प्रगाढ़ अन्धकार को चीरते हुए अपना रास्ता तय करते हुए चले जा रहे थे।

सड़क के किनारे पर ही राधामाधव बाबू का सुविशाल भवन बना हुआ था। उसके एक कमरे से उतनी रात को भी आलोक की रेखा दृष्टिगोचर हो रही थी। सारे गाँव में नीरवता होने पर भी वसु महोदय की अट्टालिका पर से लोगों की बातचीत की अस्पष्ट ध्वनि मिल रही थी। कदाचित् उस समय भी उनके यहाँ के लोग सोये नहीं थे। एकाएक देखने पर यह कोई भी समझ लेता कि इन सभी लोगों के मुख पर एक प्रकार की उत्कण्ठा का चिह्न वर्तमान है, मानों सभी लोग बहुत ही व्यस्त हैं।

मकान की दूसरी मंजिल के ऊपर एक बैठक बनी हुई थी। उसी बैठक में एक पलँग पड़ा था। वसु महोदय उसी पर लेटे हुए थे। बुढ़ापे के कारण उनका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था। रोग के कारण मुंह पीला पड़ गया था, उसके ऊपर मृत्यु का चिह्न स्पष्ट रूप से उदित हो आया था। सिरहाने के पास वासन्ती पंखा लिये हुए बैठी थी। वृद्ध के मुख पर दृष्टि स्थिर रख कर वह नीरव भाव से हवा कर रही थी। उसके

मुख पर निराशा की रेखा विराजमान थी। बीच बीच में अञ्चल के छोर से वह आँसू पोंछ लेती थी, परन्तु इस बात का ध्यान रखती थी कि दूसरा कोई उसे आँसू पोंछते देख न सके। पास ही ताई जी भी बैठी थीं। वे वसु महोदय के शरीर पर हाथ फेर रही थीं। अपने दोनों ही अत्यन्त शिथिल एवं रक्त-मांस से हीन हाथों को वक्ष पर रखकर आँखें वन्द किये हुए वृद्ध सो रहे थे। बीच बीच में यन्त्रना की अधिकता के कारण वे कराहने का प्रयत्न करते, किन्तु कराहने का भी शब्द स्पष्ट रूप से न निकल पाता। कमरे के भीतर एक दीपक टिमटिमा कर जल रहा था। उसके क्षीण आलोक में वासन्ती है, का वेदना से मुर्झाया हुआ मुख और भी मलिन जान पड़ता था।

पास ही एक दूसरे कमरे में दो-तीन डाक्टरों के साथ वृद्ध दीवान जी बैठे हुए थे। आज प्रातःकाल से ही वसु महोदय को एक प्रकार का हैज़ा-सा हो गया था। पहले तो उन्होंने किसी को कुछ वतलाया नहीं, किन्तु क्रमशः जव उसका प्रकोप बढ़ गया तव वे उसे छिपा न सके। लोगों ने जब देखा कि नाड़ी की गति क्रमशः बन्द होती जा रही तब सन्तोष को तार दे दिया, परन्तु अभी तक वह आया नहीं था।

टेबिल पर घड़ी रक्खी हुई थी। उसमें एक वज गया। घड़ी का शब्द सुनकर वृद्ध ने आँखें खोल दीं। पास ही बैठी हुई वासन्ती की ओर देखकर उन्होंने कहा--क्या तुम अभी तक सोई नहीं हो? भाभी कहाँ हैं?

वृद्ध की ओर ज़रा-सा झुककर ताई जी ने कहा--कहो, कैसी तबीअत है? मैं यहीं बैठी तो हूँ।

वसु महोदय ने क्षीण कण्ठ से कहा--आप जाकर विश्राम कीजिए, मेरी तवीअत अव कुछ अच्छी मालूम पड़ रही है। बाद को उन्होंने बहू की ओर दृष्टि फेरी और कहने लगे--बिटिया, सुनो, तुमसे मुझे कुछ बातें कहनी हैं। अधीर न होना। संसार का यह नियम ही है। इससे कोई बच नहीं सकता। एक न एक दिन सभी को जाना

पड़ेगा। यह क्या, रोती हो बिटिया ! छिः ! रोओ न। मैं जो कहता हूँ, वह सुनो। बेटी, मैं ही तुम्हें इस दुःख में ले आया हूँ। उस समय मेरे हृदय में यह आशा थी कि तुम्हें सुखी कर सकूँगा। किन्तु तुम्हारी सुखमय अवस्था देखना मेरे भाग्य में नहीं था। आज मैं जा रहा हूँ। बेटी, मेरे हृदय को किसी प्रकार का भी क्लेश या दुःख नहीं है। केवल तुम्हें ही मैं अकेली छोड़े जा रहा हूँ, तुम्हें देखनेवाला कोई नहीं रह गया, मुझे केवल यही—वे और कुछ न कह सके। वासन्ती के दोनों ही कपोलों पर से आँसुओं की धारा बह चली। वसु महोदय ने ज़रा-सा अपने आपको सँभाल कर कहा—बेटी, मेरे जीवन-काल में जो लोग मेरे आश्रय में हैं, मेरी मृत्यु के बाद वे आश्रयहीन न होने पावें। उनके ऊपर तुम्हारी दृष्टि रहनी चाहिए। बेटी, देखो, तुम किसी दिन अभिमान में आकर इस घर का परित्याग न करना। तुम बुद्धिमती हो, सभी कुछ समझ सकती हो। इस घर को छोड़ कर और कहीं भी तुम्हारे लिए ठिकाना नहीं है, यह बात सदा स्मरण रखना। एकबात मैं तुमसे और कहना चाहता हूँ। क्या तुम मेरी यह बात स्मरण रक्खोगी बेटी ? वासन्ती उच्छ्वसित भाव से रो पड़ी।

बड़ी देर के बाद वासन्ती को किसी प्रकार शान्त करके वसु महोदय ने फिर कहा—बेटी, सन्तोष यदि किसी दिन अपनी भूल समझ सके और तुम्हारे पास क्षमा माँगने के लिए आवे तो उसे क्षमा कर देना बेटी, अभिमान में आकर उसे लौटाल न देना। बोलो, बेटी, तुम उसे क्षमा कर दोगी न ?

आँसुओं से रुँधे हुए कण्ठ से वासन्ती ने कहा—आप आशीर्वाद दीजिए बाबू जी।

वसु महोदय ने कहा—मैं आशीर्वाद देता हूँ कि सन्तोष को क्षमा कर देने की शक्ति तुम्हें प्राप्त होगी। देखना, भाभी को किसी प्रकार

का कष्ट न होने पावे। अब एकमात्र वे ही तुम्हारी सहायक रह गई हैं।

ताई जी और वासन्ती दोनों ही रो पड़ीं। वसु महोदय के मुरझाये हुए कपोलों पर आँसुओं की धारा बह चली।

दूसरे दिन प्रातःकाल वसु महोदय की नाड़ी की अवस्था बहुत ही ख़राब हो गई। यन्त्रणा के मारे वे छटपटाने लगे। सांसारिक ज्ञान से शून्य वासन्ती अनिमेष दृष्टि से उनके मुख का भाव देख रही थी। उसके अन्तःकरण से रुदन का जो आवेग उठता था वह उसके रोके नहीं रुकता था। आज वह अपने आपको नितान्त ही असहाय समझ रही थी। उसके मन में रह-रह कर यही बात आती कि बाबू जी यदि न जीवित रह सके तो उनके अभाव में मैं किसके पास खड़ी हो सकूँगी, यह अपरिमित दुःख सहन करती हुई मुझे और कितने दिनों तक जीवित रहना पड़ेगा।

दुःसह वेदना में सारा रास्ता काटकर प्रातःकाल सन्तोष घर आ पहुँचा। सीढ़ी से चढ़कर जैसे ही वह दूसरी मंज़िल पर पहुँचा, सामने वृद्ध दीवान सदाशिव दिखाई पड़े। उन्हें देखते ही उसने भग्न कंठ से कहा——दादा भाई, बाबू जी——

उसकी पीठ पर हाथ रखकर दीवान जी ने कहा——अच्छी तरह हैं भाई, घबराते क्यों हो?

भर्राई हुई आवाज़ से सन्तोष ने कहा——मुझे उनके पास ले चलिए।

दीवान जी ने कहा——भाई धीरे धीरे चलो, एकाएक तुम्हें देखने से उनकी साँस बन्द हो जाने की आशङ्का है। तुम अधिक उतावली मत करो।

वे दोनों ही नीरव भाव से रोगी के कमरे के द्वार पर उपस्थित हुए। कमरा खुला हुआ था। सन्तोष ने देखा, सामने ही उसके पिता सोये हुए हैं, सिरहाने के पास घूँघट से मुँह का कुछ अंश ढंके हुए एक किशोरी बैठी है। सन्तोष ने समझ लिया

कि यह और कोई नहीं है, मेरी ही अनादृता पत्नी है। साथ ही साथ उसके मन में एक प्रकार का विद्वेष का भी भाव विकसित हो आया। वह सोच रहा था कि इसी के कारण आज मैं पिता के स्नेह से वंचित होकर घर से बहिष्कृत हो उठा हूँ। अतुल ऐश्वर्य का अधीश्वर होकर भी मैं आज यहाँ एक अतिथि-मात्र हूँ। अभिमान और क्षोभ के मारे सन्तोष का वक्ष फटा जा रहा था। उसके मन में केवल यही बात आ रही थी कि इसके सामने ही पिता जी ने यदि कोई बात कह दी तो उस समय मुझे अपार लज्जा आवेगी, वह लज्जा मैं कैसे सँभाल सकूँगा ? अपने काँपते हुए दोनों पैरों को किसी प्रकार खींचता हुआ वह कमरे में गया और पिता के चरणों के नीचे मुँह छिपा कर चुपचाप आँसू बहाने लगा।

सन्तोष को देखकर वासन्ती ने किसी प्रकार की भी कुण्ठा का भाव नहीं व्यक्त होने दिया। वह जैसे बैठी थी, वैसे ही बैठी रही। ताई जी पूजा-आह्निक के लिए उठ गई थीं। वह अकेली ही बैठी थी। समीप ही घड़ी रक्खी हुई थी, उसकी ओर देखकर वासन्ती ने उतावली के साथ पंखा रख दिया और टेबिल की ओर बढ़ी। वह पंखा उठाकर सन्तोष धीरे-धीरे झलने लगा। वासन्ती को उठती देखकर सदाशिव बाबू उसकी ओर अग्रसर हुए। वासन्ती ने मृदु कंठ से पूछा—कौन-सी दवा दूँ ?

टेबिल पर से एक शीशी उठाकर दीवान जी ने उसे दे दी। वासन्ती जब चलने को उद्यत हुई तब दीवान जी ने मृदु-कंठ से कहा—यदि सोये हों तो जगा कर दवा देने की जरूरत नहीं है। यह बात कह कर वे चले गये।

वासन्ती हक्का-बक्का हो गई। वह कुछ सोच ही रही थी कि बसु महोदय ने क्षीण कंठ से पुकारा—बिटिया।

वासन्ती उतावली के साथ चल कर शय्या के पास पहुँच गई और

उनके मुँह के सामने ज़रा-सा झुक कर कहने लगी—बाबू जी, क्या मुझे बुला रहे हैं ?

वसु महोदय ने कहा—बड़ी प्यास लगी है।

वासन्ती ने शीशी से थोड़ी-सी दवा एक कटोरी में उँड़ेलकर उनके मुँह में डाल दी। वसु-महोदय दवा पी गये। तब उन्होंने क्षीण-कंठ से पुकारा—भाभी ?

वासन्ती ने कहा—ताई जी पूजा करने गई हैं।

वसु महोदय ने कहा—मुझे पंखा कौन हाँक रहा है ?

वासन्ती इस प्रश्न का क्या उत्तर देती ? वह मस्तक झुकाये हुए स्थिर भाव से खड़ी रही।

उन्होंने फिर कहा—बहू, सदाशिव ? कोई भी उत्तर न पाकर उन्होंने कहा—सदाशिव, बोलते क्यों नहीं हो ?

अब सन्तोष स्थिर न रह सका। उसने रुँधे हुए कंठ से कहा—बाबू जी !

वसु महोदय के शरीर से मानो बिजली का तार छू गया और उससे आहत होकर वे चौंक पड़े। उन्होंने आँख खोल दी और सिरहाने के पास बैठे हुए पुत्र को देखकर क्षीण कंठ से कहा—सन्तू, बेटा !

पिता के मस्तक पर हाथ रखकर सन्तोष रो पड़ा। कुछ क्षण के बाद वासन्ती ने अश्रुगद्‌गद स्वर से कहा—बाबू जी कैसे होते जा रहे हैं ! मैं मस्तक पर जल छोड़ती हूँ, तुम ज़रा ज़ोर से हवा करो।

पहले सन्तोष समझ नहीं सका। बाद को जब उसके मस्तक पर ठंडक मालूम हुई तब उसने मस्तक उठाकर देखा कि वासन्ती बरफ़ लेकर श्वशुर के मस्तक पर आहिस्ता-आहिस्ता रगड़ रही है। सन्तोष को तब तक इस बात का पता नहीं चल सका था कि पिता जी बेहोशी की हालत में हैं। उसकी समझ में यह बात न आ सकी कि ऐसे समय में क्या करना चाहिए। इससे वह वहाँ से खिसक कर एक बग़ल बैठ गया। वासन्ती को उस समय क्रोध आ रहा था। मुँह से कुछ भी

न कह कर उसने स्वयं बायें हाथ से पंखा झलना शुरू कर दिया। कुछ देर बाद वसु महोदय को जब चेतना आई तब उन्होंने बहुत ही भर्राई हुई आवाज़ से पुकारा– बहू !

श्वशुर के मुँह के समीप झुककर उसने कहा—क्या है बाबू जी ?

वसु महोदय ने कहा—वह कहाँ गया ?

वासन्ती कोई भी उत्तर नहीं दे पाई थी। इतने में ताई जी आ गई। सन्तोष को सामने देखते ही वे रोने लगीं, मुँह से कुछ कह न सकीं।

वसु महोदय ने कहा—सन्तू, पास आ जा।

ज़रा-सा आगे बढ़कर सन्तोष जैसे ही पिता के समीप आया, वे उसकी ओर ताक कर कहने लगे—सन्तू, बेटा, आज मैं चल रहा हूँ। आज तुझसे एक बात कहूँगा। मानेगा ?

सन्तोष ने इस बात का कोई उत्तर न दिया। उसे चुप देखकर वसु महोदय ने फिर कहा—मुझे कष्ट न दे। इतने दिनों से कष्ट सहन करता आ रहा हूँ, आज तू 'नाहीं' मत करना। सुनो बेटा, मेरे ऊपर क्रोध करके तू मेरी बहू को क्लेश मत देना। आज पाँच वर्ष से वह जिस प्रकार की यन्त्रणा सहन करती आ रही है, उसे देखते देखते मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है। तू तो पढ़ा-लिखा आदमी है। मेरे अपराध के कारण बहू को क्लेश देना क्या उचित है ? अस्तु, यह सब मेरे भाग्य का दोष है, इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। किन्तु आज तू मेरी, आज्ञा का उल्लंघन मत कर। बोल बेटा, तू मेरी बहू को सुखी करेगा ?

सन्तोष मे भर्राई हुई आवाज़ से कहा—बाबू—मुझे क्षमा करना, मैं—

वसु महोदय ने असन्तोषमय स्वर से कहा—बेटा, अब भी तू नहीं समझ सका ! मृत्यु-काल में भी मुझे शान्ति से न मरने देगा ? किन्तु मैं कहे जाता हूँ, याद रखना, एक दिन इसके लिए तुझे........।

क्रमशः वसु महोदय के श्वास के लक्षण प्रकट होने लगे। डाक्टर ने आकर नाड़ी की परीक्षा की और कह दिया कि अब समय नहीं है। सन्तोष रोने लगा। उसने पिता के वक्ष पर मस्तक रख कर आँसुओं से रुँधे हुए कंठ से कहा---बाबू, बाबू---सुने जाइए---यदि मुझसे हो सका तो मैं आपकी....... ।

बाद को उसे और कुछ कहने की आवश्यकता न पड़ी। वसु महोदय ने क्षीण स्वर से लड़खड़ाती हुई जिह्वा से किसी प्रकार कहा---बहू ! बाद को वे स्थिर हो गये। शान्ति का अन्वेषण करने के लिए उनकी आत्मा शान्ति-धाम में चली गई। ताई जी गला फाड़ फाड़ कर रोने लगीं। सन्तोष पिता के वक्ष पर पड़कर सिसक सिसक कर रोता रहा; वासन्ती मूर्छित होकर वसु महोदय के चरणों के समीप पड़ी रही।

तेरहवाँ परिच्छेद

दानपत्र का समाचार

वसु महोदय की मृत्यु हो जाने पर वासन्ती अपने आपको नितान्त ही असहाय अनुभव करने लगी। वह मुँह से तो अवश्य कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलने देती थी, किन्तु भीतर ही भीतर जलती जा रही थी। जिस महानुभाव की दया के कारण वह राजराजेश्वरी बन गई है, सम्भव है, उसी के अभाव में आज उसे भिखारिणी से भी अधिक दुर्दशाग्रस्त होना पड़े। स्वामी के प्रेम से वह वंचित थी, उसके द्वारा उसे कभी किसी प्रकार का भी आदर नहीं मिल सका, किन्तु फिर भी श्वशुर के अपरिसीम स्नेह और यत्न के कारण वह किसी दिन किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं कर सकी। उसके पास क्या था और उसने क्या खो दिया, यह बात उसके सिवा और कौन समझ सकता था? केवल एक विराट् हाहाकार उसके अन्तस्तल को ठेल-ठेल कर निकल रहा था, सान्त्वना के लिए कोई भी साधन नहीं था।

वासन्ती के मन में बार-बार यही एक बात आती कि अब मुझे सबकी दृष्टि में घृणा और तिरस्कार की पात्री होकर ही रहना पड़ेगा। मृत्यु के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई भी शान्ति का साधन नहीं है। अब मैं गले की फाँसी हूँ, इन सबके सुख की बाधक हूँ। रास्ते में पड़े हुए कूड़े-करकट का जो स्थान है, ठीक वही स्थान इस परिवार में मेरा भी है। परन्तु करूँ क्या? मेरे लिए और तो कोई आश्रय है नहीं, इस तिरस्कार-रूपी विष की ज्वाला से जर्जरित होकर भी यहीं इस स्थान की मिट्टी को कुरेदती हुई पड़ी रहना पड़ेगा।

वासन्ती को किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल रही थी। वह सोचने लगी कि यहाँ तो अब मेरे लिए तिरस्कार-मय स्थान भी नहीं रह गया। इस परिवार से मेरा जो भी सम्बन्ध था उस सभी का अन्त हो चुका है। आज मैं यदि यहाँ से चली भी जाऊँ तो मुझे रोकने कोई न आवेगा।

नेत्रों के जल से वासन्ती का वक्ष-स्थल डूबने-सा लगा। संगमरमर के फ़र्श पर पड़कर वह फफक-फफक कर रोने लगी। अबाध गति से कुछ क्षण तक रोने के बाद उसका ध्यान फिर अपनी दयनीय दशा की ओर गया। वह सोचने लगी कि चिर-दिन से ही तो मेरा यह जीवन अतृप्तिमय था। श्वशुर जी ने अपने स्नेह की स्निग्ध धारा से मेरे इस जीवन को तृप्त करके दुर्भाग्य की समस्त वेदना ढँक रक्खी थी। केवल वे ही मेरी व्यथा से व्यथित होते थे, मुझ असहाय के सहायक थे। हाय ! वे भी आज इस संसार में नहीं हैं ! वासन्ती के चारों ओर की शून्यता हाहाकार कर उठी। अकस्मात् उसके बँधे हुए ओंठों को खोलकर निकल आया---दयामय !

इधर सन्तोष एक अँधेरे कमरे में कम्बल पर पड़ा हुआ था। तरह-तरह की दुश्चिन्ताओं से वह अधीर हो रहा था। संसार में जिन-जिन सुख-सामग्रियों की कामना की जा सकती है, वे सभी जिन्हें प्राप्त होती रहती हैं, वे समझते हैं कि भविष्य में भी ऐसे ही सुख के दिन रहेंगे। वे दुःख की कल्पना तक नहीं कर सकते।' या यों कहिए कि ऐसी कल्पना वे करना ही नहीं चाहते। यह अनुभव करने की शक्ति उन लोगों में नहीं रह जाती कि संसार का पथ सर्वदा ही कण्टकाकीर्ण रहता है। ऐसे लोग अपनी ही रुचि के अनुसार हर एक कार्य करते हैं, दूसरे की किसी बात पर वे ध्यान ही नहीं देते।

लुटपन से ही सुख की गोद में सन्तोषकुमार का पालन-पोषण होता आया है। दुःख की अवस्था कितनी विकराल होती है, भगवान्

की कृपा से यह अनुभव करने का अवसर उसे कभी नहीं मिला। आज पिता के दिवंगत हो जाने पर उसने यह अनुभव किया कि मैं बहुत ही दुर्दशाग्रस्त हूँ। जमींदारी का काम वह कुछ जानता ही नहीं था। पिता के जीवनकाल में उसने यह सब जानने का प्रयत्न भी नहीं किया। आज पिता जब नहीं रहे तब वह व्याकुल-सा हो उठा।

एक बात से सन्तोष और दुःखी था। वह सोच रहा था कि जमींदारी का काम-काज देखने के लिए मुझे यहीं रहना पड़ेगा और यहाँ रहने पर सदा ही वासन्ती का साथ करना पड़ेगा, इससे मेरे लिए यह नितान्त ही असम्भव है।

सन्तोष को वासन्ती के ही ऊपर क्रोध आ रहा था। वह सोचने लगा कि वह यदि पिता के सामने न पड़ जाती तो कदाचित् किसी दिन मैं सुख की आशा कर सकता था। परन्तु जीवन में अब वह आशा नहीं है। सम्भव है कि गत जीवन में मैंने वासन्ती के प्रति शत्रुतापूर्ण आचरण किया हो, इस जन्म में वह उसी का बदला लेने आई हो। सन्तोष को अपने ऊपर क्रोध नहीं आ रहा था, यह बात नहीं थी। वह यह भी सोच रहा था कि मैंने विवाह ही क्यों कर लिया? मैंने यदि विवाह न किया होता तो मेरा कोई कुछ बनाने-बिगाड़ने-वाला नहीं था। चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, जो कुछ कर डाला, वह कर डाला। अब वह वापस होने का नहीं।

अब सन्तोष को सुषमा की याद आई। वह सोचने लगा कि इस विवाह के कारण सुषमा को किसी प्रकार का विषाद नहीं हुआ, इस बात का पता उसकी उस दिन की बातचीत से भली भाँति चल गया। उसके ऊपर मेरा अब कोई अधिकार नहीं रह गया है। मैंने तो सदा के ही लिए उससे तथा उसके परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। मैं अब विवाहित हूँ, इसलिए सुषमा के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करना भी मेरे लिए उचित नहीं है। वह यदि मुझसे यथार्थ में ही प्रेम करती हो, किसी और के

साथ विवाह न करे, तो उसके साथ विवाह करने की स्वतन्त्रता मुझे कहाँ है ? सुख-नाम की जो वस्तु थी, अब वह मेरे लिए नहीं रह गई। जो दायित्व मैंने अपने कन्धे पर रखा है, उसे अब कहाँ फेंक दूँ ? अब तो मृत्यु के बिना मेरे छुटकारे का और कोई भी साधन नहीं है। परन्तु भगवान् का भी ऐसा सूक्ष्म विचार है कि दारुण यन्त्रना के मारे व्यग्र होकर जब कोई मृत्यु का आह्वान करता है तब वह भी उससे दूर भाग जाती है।

वसु महोदय की बहन को तार दिया गया था। परन्तु उनकी एक कन्या को ज्वरातिसार हो गया था, इससे वे मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए भाई को देखने के लिए नहीं आ सकीं। उनकी मृत्यु हो जाने पर ताई जी अकेली किसी प्रकार भी वासन्ती को शान्त नहीं कर पाती थीं। रात्रि में वह किसी प्रकार भी कुछ नहीं खाती थी। प्रातःकाल बहुत प्रयत्न करने पर वह किसी प्रकार ज़रा-सी खीर खा लेती; बाद को कमरे में जाकर भीतर से द्वार बन्द कर लेती। लाख प्रयत्न करके भी ताई जी द्वार नहीं खोलवा पाती थीं।

ताई जी बड़ी ही बुद्धिमती थीं। वासन्ती की अवस्था को वे न हृदयङ्गम कर सकी हों, यह बात नहीं थी। देवर की मृत्यु हो जाने पर वे वासन्ती के भविष्य की चिन्ता से अधीर हो उठी थीं। परन्तु परिपक्व अवस्था होने के कारण वे बहुत कुछ धैर्य धारण कर सकती थीं। वासन्ती में उस तरह का धैर्य धारण करने की शक्ति कहाँ थी ? यही सब बातें सोच कर ताई जी मुँह बन्द किये पड़ी रहतीं। कभी कभी तो उनके जी में आता कि सन्तोष को समझा-बुझा कर ठीक रास्ते पर ले आने का प्रयत्न करूँ। परन्तु उन्हें ऐसा करने का साहस न होता था। वे सोचतीं कि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए मेरे देवर के एकान्त अनुरोध पर भी सन्तोष ने जब ध्यान नहीं दिया तब भला वह मेरी ही बात क्यों मानने लगा ? उन्हें आशा नहीं थी कि सन्तोष किसी बात पर ध्यान देगा।

इसके सिवा उसके उस दिन के व्यवहार से भी वे बहुत ही असन्तुष्ट हुई थीं। परन्तु वे कर ही क्या सकती थीं? उनके सन्तोष-असन्तोष से उसका क्या होना जाना था?

नियमित दिन पर स्वर्गीय वसु महोदय का क्रिया-कर्म सम्पन्न हो गया। श्राद्ध के दिन बड़ा समारोह हुआ, बहुत-सा धन भी व्यय किया गया। उनके श्राद्ध में सम्मिलित होने के लिए दूर दूर से बहुत-से भाई-बन्धु, सम्बन्धी तथा ब्राह्मण-पण्डित आये थे। वे सब बिदा हो गये। सन्तोष-कुमार तथा दीवान जी की सुजनता के कारण वे सब बहुत ही तृप्त होकर गये। श्राद्ध हो जाने पर गाँव भर में इस तरह की चर्चा छिड़ी कि महीने भर किसी गरीब-दुखिया को भोजन-वस्त्र का किसी प्रकार का अभाव नहीं रहा। भाई-बिरादरी के लोग भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं निकाल सके।

श्राद्ध आदि से निवृत्त होकर एक दिन सन्तोष, दीवान के पास बैठकर हिसाब-किताब देख रहा था। इतने में एक सज्जन ने आकर पूछा—क्या आप ही सन्तोष बाबू हैं?

सन्तोष ने उन सज्जन के मुँह की ओर ताक कर कहा—आप कौन हैं? मैंने तो आपको कभी देखा नहीं। आप किसे खोज रहे हैं?

"मैं एक एटर्नी हूँ। कुछ आवश्यक कार्य से सन्तोष बाबू के पास आया हूँ। वे कहाँ हैं?"

सन्तोष ने उद्‌भ्रान्त भाव से कहा—कहिए, क्या आज्ञा है? मुझे ही लोग सन्तोष बाबू कहते हैं।

आगन्तुक ने अपने कोट की जेब से एक मुड़ा हुआ लम्बा-सा काग़ज़ निकाल कर कहा—यह आपके पिता का दान-पत्र है। वे अपना सर्वस्व अपनी पुत्रवधू को दान कर गये हैं। उन्होंने रोक दिया था, इसलिए इस दान-पत्र की कहीं चर्चा नहीं की गई। उनकी आज्ञा थी कि श्राद्ध के बाद इस दान-पत्र की बात लोगों को बतलाई जायँ और दान-पत्र उनकी पुत्रवधू को दे दिया जाय।

कुछ उत्तेजित कण्ठ से सन्तोष ने कहा—तो उसी को दीजिए। मेरी खोज क्यों कर रहे हैं?

"वे कह गये हैं कि मेरे लड़के को दे देना ही काफ़ी होगा। अलग से उसे देने की आवश्यकता नहीं है।"

सन्तोष ने शुष्क कण्ठ से कहा—तो दीजिए।

सन्तोष को दान-पत्र देकर एटर्नी बाबू वहाँ से चले गये। सन्तोष बाबू ने उन्हें भोजन के लिए कहा। परन्तु उन्होंने उत्तर दिया—यहाँ समीप ही मेरे एक आत्मीय हैं। मैं उन्हीं के यहाँ भोजन करूँगा। उनकी अनिच्छा देखकर सन्तोष ने दुबारा कुछ नहीं कहा। एटर्नी के चले जाने पर उसने दान-पत्र को आदि से अन्त तक पढ़ा। तब गम्भीर कण्ठ से दीवान जी से कहा—दादाभाई, आपको भी तो दान-पत्र की बात मालूम थी। आपने आज तक मुझसे क्यों नहीं बतलाया?

दीवान ने म्लान मुख से कहा—स्वर्गीय बाबू साहब ने रोक दिया था।

"क्यों? क्या उनकी धारणा थी कि इसका समाचार पाकर मैं मर जाऊँगा?"

"यह मैं कैसे समझ सकता हूँ भाई? परन्तु उन्होंने कहा था कि मेरी मृत्यु के समय तक दान-पत्र की बात गुप्त रहनी चाहिए।"

रुँधे हुए कण्ठ से सन्तोष ने कहा—आपने बड़ा अन्याय किया है।

एक लम्बी साँस लेकर दीवान ने कहा—इसमें मेरा क्या अपराध है भाई? क्या तुम चाहते हो कि मैं उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करता?

सन्तोष ने उत्तेजित कण्ठ से कहा—मैं आपसे यह नहीं कह रहा हूँ। किन्तु उनकी मृत्यु के बाद तो आप मुझसे बतला सकते थे?

"क्या करूँ भाई? तुम्हारा अदृष्ट है। तुम्हारा ही ऐश्वर्य्य है और आज तुम कङ्गाल हो।

सन्तोष स्निग्ध कण्ठ से बोला उठा--आप इसके लिए दुःखी न हों दादा भाई। मेरे भाग्य में जो कुछ लिखा है उसे कोई मेट नहीं सकता। यदि विधाता ने मेरे कर्म में सुख लिखा होगा तो उससे मुझे कौन वञ्चित कर सकता है? मैं पुरुष हूँ, पढ़ा-लिखा भी हूँ। मेरे लिए क्या चिन्ता है? अपनी सम्पत्ति जिसे देकर वे सुखी हों उसी को दें, इसमें छिपाने की कौन-सी बात है? मैं समझूँगा कि ग़रीब के घर में मेरा जन्म हुआ है, मेरे पास कुछ नहीं है।

सन्तोष ने दान-पत्र दीवान सदाशिव के हाथ पर रख दिया। उसने कहा--यह लीजिए, जिसकी चीज़ है, उसी को दीजिए। इसके सम्बन्ध में अब आप मुझसे किसी प्रकार का अनुरोध न कीजिए। सन्तोष वहाँ से चला गया।

दीवान जी दानपत्र को हाथ में लेकर उद्भ्रान्त भाव से यमुना की तरङ्ग-लहरी को देखते रह गये।

चौदहवाँ परिच्छेद

पति से बातचीत

उस समय साँझ हो गई थी। संसार धूसर वर्ण की यवनिका से ढक गया था। चारों दिशायें अन्धकार से आच्छादित थीं। क्रमशः रात्रि गम्भीर होती गई। इस समय वासन्ती खुली हुई खिड़की के सामने खड़ी सोये हुए शान्त जगत् की ओर देख रही थी। एकाएक उसके मन में आया कि यह जो जगत् गम्भीर अन्धकार से ढँका जा रहा है, इसका भी एक निर्दिष्ट परिवर्तन है। कई घंटे के बाद ही प्रभात के प्रकाश से फिर यह दिगन्त उद्भासित हो उठेगा। केवल मेरा ही जीवन, जो चिरकाल से अतृप्तिमय रहा है, सदा अन्धकार में ही मग्न रहेगा। यह हृदय का विराट् अन्धकार कदाचित् किसी समय भी दूर न हो सकेगा! निराशा की दारुण यन्त्रणा वक्ष में वहन करके कितने दिनों तक, कितने दिन-रात, मुझे इसी तरह काटनी पड़ेगी, यह कौन बतला सकता है? जिस समय मेरा जीवन पहले पहल मुकलित हुआ था, एक बार वह आशा के उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठा था। उस समय कैसे पूर्ण आनन्द से मेरा जीवन ओत-प्रोत हो उठा था! किन्तु न जाने किस पाप से, किस अपराध से, परित्यक्त हुई हूँ, यह मैं कैसे समझ सकूँ?

वासन्ती का हृदय आज अत्यधिक विषाद से परिपूर्ण हो उठा था। आज प्रातःकाल उसने ताई जी से सुना था कि मेरे श्वशुर मुझे ही अपनी सारी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बना गये हैं। श्वशुर के इस अनुचित कार्य से वासन्ती का हृदय अत्यन्त ही विषादमय हो उठा। अपने भविष्य की आशङ्का से, वह व्याकुल हो उठी। मेरे स्वामी नीरव भाव से यह अपमान सहन कर लेंगे, यह उसे

विश्वास नहीं हो रहा था। इससे वह अपने आपको अत्यन्त ही दुर्भागिनी समझ रही थी। वह सोचने लगी कि क्या यह भी अदृष्ट की छलना है ?

श्वशुर की मृत्यु हो जाने पर वासन्ती के मन में यह आशा उदय हुई थी कि शायद सदा ही प्रियतम का मुख देखने को मिलेगा। वह सोचने लगी कि सम्भव है, वे प्रतिदिन घर में न रहें, किन्तु ज़मींदारी का काम-काज देखने के लिए तो उन्हें बार-बार घर आना ही पड़ेगा। किन्तु जब उसे दान-पत्र का हाल मालूम हुआ तब उसके हृदय से वह आशा भी जाती रही। स्त्री का धन ग्रहण करके वे घर में वास करते रहें, वासन्ती को इस बात की ज़रा भी आशा नहीं थी। वह बार बार सोचने लगी कि बाबू जी ने ऐसी भूल क्यों की, ज्ञानी पुरुष होकर उन्होंने अज्ञानी का-सा काम क्यों किया? मेरे भविष्य पर उन्होंने ज़रा भी विचार न किया! सम्भव है कि उन्होंने इन्हें दण्ड देने के ही विचार से ऐसा किया हो, किन्तु इससे तो अधिक दण्ड मुझे ही मिलेगा। इसका परिणाम क्या होगा? एक अज्ञात आशङ्का से वासन्ती की आँखें डबडबा आईं।

दूसरे दिन दोपहर को सन्तोष भोजन कर रहा था। उस समय उसने कहा—आज रात की गाड़ी से मैं जा रहा हूँ।

ताई जी ने कहा—और दो-चार दिन रह जाते तो अच्छा था भैया! इधर चारों तरफ़ के झमेले हैं। तुम्हारे पिता अब हैं नहीं। तुम नहीं देखोगे तो देखेगा कौन ?

सन्तोष ने कहा—जिसकी चीज़ है वही देखेगा। मैं कौन हूँ ?

ताई जी ने कहा—तू कैसी बात कहता है बेटा? स्त्री ज़मींदारी का काम सँभाल सकती है ?

सन्तोष ने कहा—वे जब दे गये हैं तब इतना तो समझ ही लिया होगा कि ज़मींदारी सँभालने की योग्यता इसमें है।

ताई जी ने दुःखीभाव से कहा--जिसका जो काम है वह उसी को शोभा देता है, दूसरे को वह जंजाल मालूम पड़ता है। स्त्री होकर भला वह जमींदारी का काम क्या देख सकेगी?

सन्तोष ने विरक्तिपूर्ण स्वर से कहा--तो क्या तुम चाहती हो कि यहाँ रह कर मैं स्त्री की बदौलत पेट पालूँ? दूसरे लोग देखें और तुम लोग भी देखो। यही न? परन्तु यह नहीं होने का। आज भी मैं इतना बुद्धिहीन नहीं हूँ। मैंने पढ़ा-लिखा है, भाग्य में होगा तो कमा खाऊँगा, नहीं तो उपवास ही करूँगा। इतना मैं कहे देता हूँ कि भूख के मारे चाहे मैं मर ही क्यों न जाऊँ, किन्तु तुम लोगों के यहाँ भिक्षा माँगने मैं न आऊँगा।

अनावश्यक समझकर ताई जी ने उस दिन और कुछ नहीं कहा। भोजन करके सन्तोष बाहर के कमरे में चला गया। तब उन्होंने भोजन के लिए वासन्ती को बुलाया। चौके में आने पर वासन्ती के मुँह की ओर देखते ही ताई जी ताड़ गईं कि वासन्ती ने हम लोगों की सभी बातें सुन ली हैं। इससे उन्होंने उससे और कुछ नहीं कहा। भोजन से निवृत्त होकर वे दोनों ही चुपचाप रहीं।

बड़ी देर तक सोचने-विचारने के बाद वासन्ती ने निश्चय किया कि एक बार उनसे बातचीत करके देख ही लूँ। यह विचार उसके मन में उदय तो हुआ, किन्तु साथ ही लज्जा की भी ऐसी जोर की बाढ़ आई कि उसके प्रवाह में उसका सारा सङ्कल्प बालू के बाँध की तरह बहने-सा लगा। वह पाँच हाथ आगे बढ़ती तो लज्जा उसे दस हाथ पीछे ढकेल ले जाती।

उसका विवाह हुए पाँच वर्ष हो गये थे। इस बीच में वह एक दिन भी एकान्त में स्वामी का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकी थी। दोनों में कभी कोई बातचीत भी नहीं हुई। वे दोनों ही एक-दूसरे के लिए बिलकुल नये थे। श्वशुर जिस समय मृत्यु-शय्या पर पड़े थे, उस समय वासन्ती ने एक बार कुछ कहा था अवश्य, परन्तु सन्तोष ने उसकी बात का कोई उत्तर

नहीं दिया था। या तो उसने पत्नी की बात सुनी ही नहीं थी या जान-बूझ कर ही उसने उसकी उपेक्षा की थी। जो भी हो, वासन्ती ने इससे अपने आपको बहुत ही अपमानित अनुभव किया था और वह अपमान आज तक नहीं भूल सकी थी। परन्तु वह बेचारी कर ही क्या सकती थी ? विधाता ने उसके भाग्य में यही लिख दिया था। उसे मेट देने की शक्ति बेचारी वासन्ती में कहाँ थी ? उसके पास सभी कुछ था और कुछ भी नहीं था। प्रतिदिन सूर्योदय के साथ ही साथ उसके मन में भी यह आशा उदित होती कि शायद वे आज मुझसे कुछ बातचीत करेंगे। अन्त में रात्रि के अन्धकार में शून्य शय्या पर जाकर जब वह अकेली ही लेटती तब उसके वक्ष:स्थल से व्यर्थता की एक नि:श्वास निकल पड़ती, लाख प्रयत्न करने पर भी उसे रोकने में वह समर्थ न हो पाती।

वासन्ती अँधेरे कमरे में बैठे बैठे क्रमशः अधीर होती जा रही थी। इससे वह बाहर निकल आई। यहाँ आते ही उसने सन्तोष को बाहर की ओर बढ़ते देखा। उस समय लज्जा, भय और सङ्कोच आदि को दूर हटाकर वह स्वयं भी कुछ आगे बढ़ी और कहा—सुनिए।

चलते चलते अकस्मात् विस्मित होकर सन्तोष ने पीछे की ओर देखा कि कोई खम्भे की आड़ में खड़ा है। क्षण भर तक खड़े रहने के बाद वह सोचने लगा—तो क्या सुनने में मैंने भूल कर दी है ? जो असम्भव है वह कैसे हो सकता है, यह सोचकर वह [illegible] लगा। इतने में फिर पीछे से उसने पुकारने की आवाज़ सुनी—मैं एक बात कह रही थी।

अब सन्तोष लौट कर खड़ा हो गया। वह कहने लगा—मुझसे कुछ कहती हो ?

बरामदे में अन्धकार होने पर भी सन्तोष ने वासन्ती को पहचान लिया। परन्तु वह सोच रहा था कि जिससे कभी जरा-सा दृष्टि-विनिमय तक नहीं हो सका वह कैसे सङ्कोच छोड़कर इस तरह बातचीत कर सकती है ? हो न हो, सुनने में मैंने भूल की है। यह सोचकर वह

फिर चलने लगा। किन्तु पीछे से फिर जब उसने पुकारने की आवाज़ सुनी तब वह लौट कर खड़ा हो गया।

बड़ी देर तक नीरव रहने के बाद सन्तोष ने फिर कहा---कहो, क्या मुझसे काम है ?

वासन्ती को लज्जा आ रही थी अवश्य, परन्तु उसे किसी प्रकार रोककर उसने रुँधे हुए कण्ठ से कहा---क्या आप आज ही चले जा रहे हैं ?

पहले सन्तोष के मन में यह बात अवश्य आई थी कि वासन्ती को खूब जी भर कर फटकार लूँ। परन्तु उसे कुछ भी कहने की इच्छा न हुई। वह सोचने लगा कि इसका तो कोई अपराध है नहीं। इसके सिवा इसे मैंने कितने वर्ष से उपेक्षापूर्ण परिस्थिति में डाल रक्खा है। आज यह स्वयं अपनी अवस्था को समझकर दीन-भाव से मुझसे दो बातें करने आई है तो सुन कर जाने में ही क्या हानि है ? सम्भव है कि यही मेरी उसकी अन्तिम बातचीत हो। यह सोचकर उसने कहा---हाँ, आज रात की गाड़ी से ही जाऊँगा।

वासन्ती ने तब धीरे से कहा---तो मैं.....अकेली.....क्या... करूँगी ? उसका स्वर उस समय भी कम्पित हो रहा था।

"पिता जी सब प्रबन्ध कर गये हैं। तुम्हें किसी बात की चिन्ता न करनी पड़ेगी।"

तब वासन्ती ने दान-पत्र लेकर कहा---मैं इसे क्या करूँगी ? इसे अपने पास ही रख लीजिए।

"इसे लेकर मैं क्या करूँगा ? तुम्हारी चीज़ में मेरा कोई अधिकार नहीं है। तुम तो सब समझती हो। जान-बूझ कर व्यर्थ में ऐसा क्यों कहती हो ?"

आँसुओं से रुँधे हुए कण्ठ से वासन्ती ने कहा---मैं क्या करूँ ?

सन्तोष ने रुखाई के साथ कहा---तुम्हारी जो इच्छा हो। मेरे साथ किसी दिन भी तुम्हारा कोई सम्पर्क नहीं था। भविष्य में भी नहीं रहेगा।

सन्तोष और भी कुछ कहने जा रहा था, परन्तु रुक गया। वह जो कुछ कह गया वह भी कहने की इच्छा उसे नहीं थी, वह सब तो अकस्मात् ही उसके मुँह से निकल गया था। कुछ क्षण के बाद अपने आपको सँभाल कर दृढ़ कण्ठ से उसने कहा—तुमसे कहने की इच्छा नहीं थी। परन्तु तुम स्वयं जब सुनने पर उतारू हो गई तब कहने के सिवा और कोई उपाय नहीं रह गया। तुम्हारे धन और तुम्हारे अन्न से मैं अपनी जीविका नहीं चलाऊँगा। मैंने निश्चय कर लिया है कि कलकत्ते में जाकर नौकरी करूँगा। जीवन के जितने दिन शेष हैं, उन्हें इसी तरह बिता दूँगा। तुम समझ लो कि मेरे पति की मृत्यु हो गई है, मैं विधवा हूँ। और—आगे वह और कुछ न कह सका। आवेग के कारण उसका कण्ठ रुद्ध हो गया।

वासन्ती आगे की ओर बढ़ी और दान-पत्र सन्तोष के चरणों के पास रख दिया। दोनों हाथ वक्षःस्थल से लगाकर मस्तक नीचा किये हुए वह खड़ी रही। क्रोध और क्षोभ के मारे उसकी दोनों आँखों में आँसू भरे हुए थे।

दान-पत्र को वासन्ती की ओर फेंककर सन्तोष ने कहा—मेरा इससे कोई प्रयोजन नहीं है। मैं पैसा नहीं चाहता। मैंने एक दिन जो कुछ प्राप्त किया था उसके सामने राजा का राज्य भी तुच्छ था। मन में इच्छा भी यही थी। परन्तु भाग्यचक्र से हो गया इसका उलटा। मनुष्य भ्रम का दास है। भूल के कारण जो कुछ कर गया हूँ उसे फेरने का कोई उपाय नहीं है। इसी लिए दूर रहकर इसका प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो रहा हूँ।....

अनभिज्ञ किशोरी की समझ में उस समय भी यह बात नहीं आ रही थी कि मेरे स्वामी ने क्या पाया था और क्या वे खो बैठे। उसकी क्षुद्र बुद्धि में यह कुछ आ ही नहीं रहा था। वह तो केवल

अज्ञात सत्य का अन्वेषण करने के लिए अन्धकार में टटोलती फिर रही थी। वक्ता का अभिप्राय वह कुछ भी न समझ सकी।

बड़ी देर तक सोच-विचार करने के बाद वह पति की अप्रसन्नता का कारण कुछ-कुछ समझ गई। उसने बुआ जी से सुना था कि उस समय इनकी विवाह करने की इच्छा नहीं थी। पिता ने ज़ोर करके विवाह कर दिया था, इसी लिए रुष्ट होकर वे सबको तङ्ग कर रहे हैं। यह सोचकर वासन्ती को श्वशुर पर भी क्रोध आया। अभिमान के कारण उसे केवल बार-बार रुलाई आ रही थी। वह सोचने लगी कि जान-बूझकर वे मुझे ऐसी विडम्बना में क्यों डाल गये? मैं स्त्री हूँ, यह सब किस तरह सँभाल सकूँगी? इन्होंने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि मुझे कुछ न चाहिए। मैं कुछ देखूँगा भी नहीं। ऐसी दशा में मैं अकेली क्या करूँगी? मेरा अपराध ही क्या है? बाबू जी से रुष्ट होकर ही वे ऐसा कर रहे हैं।

बड़ी देर तक चुप रहने के बाद वासन्ती ने कहा––इसे आप ले जाइए। मैं क्या करूँगी? मैं तो कुछ जानती नहीं।

सन्तोष ने दृढ़ कण्ठ से कहा––तुमसे कितनी बार कहना पड़ेगा कि इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। क्या तुम––

तब वासन्ती ने भग्न कण्ठ से कहा––तो मेरा ही इससे क्या प्रयोजन है? यह कहकर दान-पत्र को चीर-फाड़ कर उसने सन्तोष के चरणों के समीप फेंक दिया।

सन्तोष ने मुस्कराकर कहा––यह बुरा नहीं है! निरर्थक फाड़ डालने से क्या लाभ हुआ; रक्खे रहना अच्छा ही था।

वासन्ती ने भर्राई हुई आवाज से कहा––मुझे ही कौन इससे इतना अनुराग है। मैं ही......अपराधिनी......

एकाएक सन्तोष की दृष्टि क्षण भर के लिए वासन्ती के मुख-मंडल पर निबद्ध हुई। उसने देखा कि वासन्ती दोनों हाथों से अपना मुँह ढँके हुए है। सन्तोष ने मन ही मन यह अनुभव किया कि वासन्ती

रो रही है। उसके जी में आया, वासन्ती से कह दूँ कि केवल कष्ट देने को ही मैं विवाह करके तुम्हें ले आया हूँ। अपराधिनी तुम नहीं हो, सारा अपराध मेरा है। परन्तु मन की दुर्बलता को और प्रश्रय न देकर वह कम्पित चरणों से बैठक में चला गया। जब तक वह बाहर जा रहा था, जब तक उसकी मूर्ति दिखाई पड़ रही थी, तब तक वासन्ती अनिमेष-दृष्टि से प्रियतम की ओर ताक रही थी। उसकी मूर्ति दृष्टि के अन्तराल में हो जाने पर वह अपने कमरे में चली गई और फ़र्श पर पड़ रही। आँसुओं का आवेग उससे रोका न गया। बड़ी देर तक वह रोती रही।

उस दिन जब द्वार बन्द करके वह पड़ी तब से फिर उठी नहीं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

वासन्ती की अवस्था

सन्तोष के चले जाने पर वासन्ती एकदम से हाथ-पैर समेटकर बैठ गई। सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में तो वह किसी से कुछ बात चीत ही नहीं करती थी। जैसा कि वसु महोदय कह गये थे, दीवान सदाशिव कभी कभी उसके पास जाते और ज़मींदारी का हाल बतलाया करते। कहां के किसान लगान देने मे टाल-मटूल कर रहे हैं, कहाँ किसने नियमानुसार आज्ञा लिये बिना ही मकान बनवा लिया है या पेड़ लगवा लिया है और कौन कौन-से लोग राज्य को हानि पहुँचाने के लिए क्या क्या षड्यन्त्र कर रहे हैं, यह सब वे वासन्ती को बतलाया करते और हर एक विषय में अपनी सम्मति देकर उसकी स्वीकृति लेने का प्रयत्न करते। परन्तु वासन्ती सुनकर चुपचाप बैठी रहती, उसके मुंह से एक भी वाक्य न निकलता। उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा में कुछ देर तक खड़े रहने के बाद दीवान जी भी धीरे धीरे चले जाते।

समुचित रूप से देख-रेख न हो सकने के कारण धीरे धीरे चारों ओर कुप्रबन्ध फैलने लगा। शत्रुओं ने समझ लिया कि हमारे लिए यह अवसर बहुत ही अनुकूल है, अतएव वे मस्तक उठाकर खड़े हो गये। सरकारी मालगुजारी समय पर अदा न हो सकने के कारण कुछ जमींदारी नीलाम हो गई। परन्तु फिर भी वासन्ती के मुँह से कोई एक भी बात न निकलवा सका। वह सोचती, मैं कौन हूँ, ये लोग मुझसे क्यों पूछने आते हैं।

जिस दिन मुग्धा वासन्ती ने कुमारीहृदय की अमलिन भक्ति, प्रेम और स्नेह नवजात अतिथि के चरणों में उत्सर्ग किया था, उस दिन यह कौन जानता था कि उसकी यह उपहार की सामग्री अनादृत होकर लौट

आवेगी, अतिथि दृष्टि फेरकर देखेगा भी नहीं। विवाह के समय एक दूसरे का मुख देखने की रस्म जब अदा हुई थी, उस समय निमेष भर के लिए वासन्ती के दृष्टि-पथ पर उसके जीवन-देवता की अनिन्द्य सुन्दर कान्ति उदित हुई थी, आज भी उसकी दीप्ति से उसका हृदय और मन परिपूर्ण था। वासन्ती के हृदय का देवता उसके नवकुसुमित यौवन के निष्कपट प्रेम को इस तरह पैर से ठेलकर चला जायगा, उस समय यह बात किसे मालूम थी ?

वेदना के मारे वासन्ती के नेत्र जल से परिपूर्ण हो उठे। वह शान्त और सुप्त जगत् की ओर ताककर सोचने लगी कि इस विशाल जगत् के किसी एकान्त कोने में कहीं कोई ऐसा भी पवित्र स्थान है, जहाँ इस अट्टालिका का अतुल वैभव सुख-सम्पद् तथा विलास का स्रोत छोड़कर चली जाऊं ! अजी, वह कहाँ है ? कहाँ है ? देवता ! मेरे हृदय की वेदना का तुम्हारे अतिरिक्त और कौन अनुभव कर सकता है ? मेरे यहाँ रहने से यदि तुम्हें विरक्ति होती है, तुम्हारा घर यदि तुम्हें असह्य हो जाता है, तो बतला दो, बतला दो कि मैं कहाँ चली जाऊँ ? कौन-सा ऐसा स्थान है जहाँ मैं जा सकती हूँ ? मृत्यु के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई मार्ग नहीं है। यह विश्वजगत् मुझे देखकर घृणा से मुँह फेर रहा है, यह देखकर मेरी अन्तरात्मा आत्मग्लानि से परिपूर्ण होती जा रही है। समस्त दिन और समस्त रात्रि दीन भक्त के समान तुम्हारे ही घर में एकाग्र चित्त से तुम्हारे ही ध्यान में मग्न रहती हूँ। क्या तुम्हारा सिंहासन डगमग न होगा ? क्या इस शक्तिहीना की वेदना कठोर पिञ्जर में बँधे हुए चित्त को कोमल नहीं कर सकती ? क्या वह इतना दुर्भेद्य, इतना कठिन है ?

वासन्ती अब निरी बालिका तो थी नहीं। इसके सिवा उसकी इस उपेक्षापूर्ण स्थिति ने ही उसम वह सम्पूर्ण ज्ञान उत्पन्न कर दिया था जो इस अवस्था की नवयुवतियों में अपने आप ही उत्पन्न हो जाया करता है। स्वामी ने उसका परित्याग क्यों किया, यह बात बार-बार

विचार करने पर भी उसकी समझ में नहीं आती थी। पास-पड़ोस में रहनेवाली उसकी अवस्था की अन्य नवयुवतियाँ आ-आकर जब अपने अपने स्वामी के सौभाग्य का हाल बतलातीं तब किसी एक अज्ञात आकांक्षा से उसका हृदय आकुल हो उठता, यह वह स्वयं भी न समझ पाती। वासन्ती की यह अवस्था देखकर ही पास-पड़ोस की नवयुवतियाँ अपने अपने सुख-सौभाग्य की कथा सुनाने आती हैं, यह समझने में उस बुद्धिमती को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। अपनी अवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करना उसकी शक्ति से परे है, यह बात पहले चाहे वह भले ही न जानती रही हो; किन्तु अब तो भली भाँति समझ गई थी। किन्तु फिर भी ये निर्मल निष्ठुर वाक्य उसके अन्तःकरण में कितने कठोर होकर लगते थे, यह बात समझनेवाला अन्तर्यामी वेदनाहारी के सिवा और कौन था? स्वामी यदि उसे नहीं देखना चाहते तो न सही। चाहे वे प्यार करें या न करें। इसमें दूसरों को तानेज़नी करने का क्या अधिकार है? इससे क्या उसके नारीत्व पर आघात नहीं लगता? इस तरह की बात मन में आते ही स्वामी के ऊपर उसे बड़ा क्रोध आता, क्षोभ के मारे वह अधीर हो उठती। वह सोचती कि मुझे इतने आदमियों के सामने इस तरह घृणित बना कर कैसे रख छोड़ा है? इससे क्या उनकी गौरववृद्धि होगी?

अपने सम्बन्ध में भी वासन्ती बहुत कड़ी हो गई थी। प्रातःकाल उठकर वह स्नान और राधावल्लभ की पूजा आदि का प्रबन्ध करती। बाद को स्वयं पूजा आदि से निवृत्त होकर बारह-एक बजे तक राधा-वल्लभ के भोग की सामग्री बनाकर तैयार करती। अन्त में देवता को अर्पण करने के पश्चात् ताई जी की थाली में बैठकर वह प्रसाद ग्रहण करती। ताई जी कहते कहते हार जातीं, परन्तु वह दुबारा जल तक न ग्रहण करती। श्वशुर के जीवनकाल में वह अपने आपको बहुत कुछ सजाये रखती थी। परन्तु उनकी मृत्यु होते ही धीरे धीरे वह अपने

सभी वहुमूल्य वस्त्र, आभूषण आदि का परित्याग करती गई। ताई जी बहुत रो-धोकर भी उसका मत परिवर्तित न कर सकीं। हाथ में वह थोड़ी-सी हाथीदाँत की चूड़ियाँ और शरीर पर लाल किनारे की एक मोटी साड़ी के सिवा और कुछ नहीं पहनती थी। इतने में ही उसका सौन्दर्य मानों निखरा पड़ रहा था। वस्त्र-आभूषण से विहीन, शृङ्गार-शून्य तरुणी श्वशुर-गृह में तुरन्त के खिले हुए फूलों के गुच्छे के समान शोभा पाने लगी। लोग उसे देखकर समझते, मानो यह भस्म से ढँकी हुई अग्नि-शिखा है और यही समझ कर वे आँखें मूँद लेते।

एक दिन रात्रि में ताई जी जब शयन करने गई तब कहने लगीं—कहो बिटिया, इस तरह तो सारी सम्पत्ति चौपट होती जा रही है। तुम अब भी मुंह न खोलोगी? उस दिन सदाशिव बहुत दुःखी हो रहे थे, कह रहे थे कि एक-एक टुकड़ा ज़मीन बाबू साहब का एक-एक बूँद रक्त था। वही सारी ज़मीन इस तरह हाथ से निकल जाना चाहती है, यह देखकर बड़ा दुःख हो रहा है। बहू जी कुछ कहेंगी नहीं। इधर बाबू साहब के दानपत्र में लिखा है कि उनकी आज्ञा के बिना कोई काम हो ही नहीं सकता। क्या तुम बिटिया एक बार सब कुछ देख-सुन कर बतला नहीं सकती हो?

वासन्ती ने कहा—मैं क्या जानू?

ताई जी ने कहा—ऐसा कहने से तो काम चलेगा नहीं बिटिया! जब तुम्हारा भाग्य ही अच्छा नहीं है तब देखे बिना काम कैसे चल सकता है? तुम तो उतनी नासमझ भी नहीं हो बिटिया! इस तरह अपनी सम्पत्ति दूसरों के हाथ में कैसे जाने देती हो? वह (सन्तोष) जब यहाँ है ही नहीं और इधर कुछ ध्यान भी नहीं देता तब व्यर्थ में उसके ऊपर क्रोध करके क्यों अपनी हानि कर रही हो?

वासन्ती ने अनुनय के स्वर में कहा—क्रोध किसके ऊपर करूँगी ताई जी?

ताई जी ने कहा—किसके ऊपर क्रोध करके तुम इस तरह हर

मामले में उदासीन बनी रहती हो, यह तो तुम्हीं जानती होगी बिटिया ! अवश्य यह क्रोध का भाव तुम्हारा आन्तरिक नहीं, बल्कि प्रदर्शन भर है। इसे वास्तव में मान कहना चाहिए। परन्तु यह मान हो तुम किसके लिए कर रही हो ? वह यदि मनुष्य होता तो ऐसा क्यों होने देता ?

वासन्ती ने मुस्करा दिया। वह कहने लगी—जी नहीं चाहता, इसी से मैं इधर ध्यान नहीं देती हूँ। ताई जी, मुझे किसी पर क्रोध या मान नहीं है। और यदि होगा ही तो मेरा दुःख कौन समझ सकेगा ? जो समझते थे वे तो अब ......वासन्ती और न कह सकी।

कुछ क्षण तक चुप रहने के बाद ताई जी ने फिर कहा—बिटिया, यह जो तुम बिना खाये और बिना पहने अपना शरीर मिट्टी किये डालती हो, उसे क्या वह देखने आता है या सुनने आता है ? वह तो कहीं कीएक वेश्या की लड़की के पीछे दीवाना है, इस तरह की सोने की प्रतिमा की ओर दृष्टि फेर कर देख तक नहीं सका। वह उसी के फेर में रात-दिन पड़ा रहता है। उसी के साथ वह विवाह करने को तैयार था। परन्तु यह बात बाबू जी के कानों तक पहुँच गई। वे जाकर उसे पकड़ लाये और तुम्हारे साथ उसका विवाह कर दिया। तभी से उसका मनोभाव घरवालों के बिलकुल बिरुद्ध हो गया है। बाबू जी को भी इसके कारण बहुत ही किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होना पड़ा था। उन्होंने जब सुना कि लड़का एक विधर्मी की कन्या के साथ विवाह करने का विचार कर रहा है तब वे चिन्तित हो उठे। वे सोचने लगे कि कहीं ऐसा न हो कि मेरा लड़का उसके साथ विवाह करके उसी का धर्म ग्रहण कर ले। यही सोच कर बाबू जी तुरन्त ही उसे बुलाने के लिए दौड़ पड़े और उसे लाकर झटपट विवाह कर दिया। इसका जो फल हुआ वह नितान्त ही शोचनीय है। वे स्वयं तो चले गये, तुम दुःख भोग रही हो और मैं जीवित हूँ तुम्हारा वही दुःख देखने के लिए।

ताई जी इतना कहकर चुप हो गई। परन्तु वे अधिक समय तक हृदय की वेदना को रोक न रख सकीं। वे कहने लगीं—अब तो जीवित रहने की बिलकुल इच्छा नहीं है बिटिया। परन्तु करूँ क्या? मृत्यु पूछती ही नहीं। रास्ता भी नहीं जानती हूँ कि चली जाऊँ। इस तरह की दुर्दशा कितने दिनों तक देखनी पड़ेगी, यह भी नहीं जान पाती हूँ। जब विवाह ही कर लिया तब आकर आनन्द से घर में रहे, यह तो नहीं होता, उसी लज्जाहीन स्त्री का शोक हृदय में लेकर घर से निकल भागा। तुममें भी बिटिया ज़रा-सी बुद्धि नहीं है। बाबू जब सब कुछ तुम्हारे ही नाम लिख गये हैं तब इसकी देख-रेख किये बिना कब तक काम चलेगा? धीरे धीरे करके सभी तो नष्ट होता जा रहा है। शायद इसी क्रोध में वह और चला गया है। मैं कहने गई तब उसने मुझे डाँट दिया। कहने लगा कि मुझे औरत के टुकड़े तोड़ने को कहती हो? क्या मैं मूर्ख हूँ जो उसकी बदौलत निर्वाह करूँगा? मुझसे तो कुछ कहते ही नहीं बनता बिटिया। तुम लोगों का चाल-ढाल मुझे अच्छा नहीं लगता। अब तो तुम मुझे काशी भेज देतीं तो अच्छा था।

ताई जी बड़ी देर तक बक-झक करती रहीं। परन्तु फिर भी श्रोता का कोई भी उत्तर उन्हें नहीं मिल सका। अन्त में वे थककर सो गईं।

सरला वासन्ती ने स्वामी के हृदय का वास्तविक परिचय प्राप्त करके बहुत कुछ शान्ति-लाभ किया। इतने दिनों तक मानो वह अन्धकार में टटोलती फिरती थी। आज जाकर वह तत्त्व की बात मालूम कर सकी। इससे उसकी व्याकुलता बहुत कुछ दूर हुई। उसने यह अवश्य सुना था कि उसके पति उसकी उपेक्षा करके किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करते हैं। परन्तु इस कारण उसे पति पर क्रोध नहीं आया। इसके विपरीत उसे पति से सहानुभूति ही हुई। बात यह थी कि उसके पति ने उसके साथ विवाह करने से पहले ही दूसरी स्त्री से प्रेम कर लिया था। ऐसा करके उन्होंने कुछ अन्याय नहीं

किया। अविवाहित अवस्था में तो पुरुष प्रायः प्रेम में पड़ ही जाया करते हैं। उस समय वे समझते थे कि इसी नवयुवती के साथ विवाह करेंगे। उन्हें क्या मालूम था कि घटनाचक्र से उनकी कामना पूर्ण न हो सकेगी। उनके प्रेम में कृत्रिमता नहीं थी। उन्होंने यथार्थ ही उस स्त्री से प्रेम किया था। उनका वह प्रेम कितना प्रगाढ़ था, उनका इस समय का व्यवहार ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वासन्ती मन ही मन कहने लगी——बाबूजी ने बिना सोचे-समझे ऐसा क्यों कर डाला ? क्या उन्होंने सन्तान के कष्ट का ज़रा भी विचार नहीं किया ? हठ में आकर पुत्र का विवाह करके क्या वे अपने क्षोभ की व्यथा निवृत्त कर सके ? तब उन्होंने ऐसी भूल क्यों की ? उन्होंने स्वयं भी कितना कष्ट सहन किया और हम लोगों को भी आजन्म कष्ट सहन करने के लिए छोड़ गये। सन्तोष की उस दिन की बात का मर्म वासन्ती आज समझ सकी। उस दिन उसने कहा था कि मैंने जो कुछ पाया है, उसके सामने यह ऐहिक सम्पत्ति तुच्छ है, मुट्ठी भर धूलि के समान है, रास्ते का कूड़ा-करकट है। इसके सिवा इसका और कोई मूल्य नहीं है। सन्तोष की गम्भीर वेदना का वासन्ती जितना ही अधिक अनुभव करती, उतना ही उसके लिए उसका हृदय हाय-हाय कर उठता। वह सोचने लगी कि यदि फिर कभी उनसे मुलाक़ात होगी तो उनके पैर पकड़ कर कहूँगी——अजी, तुम यदि उसे पाकर सुखी हो सको तो उसके साथ विवाह कर लो। मैं प्रसन्नता-पूर्वक सौत के लिए अपने अधिकार छोड़ दूँगी।

दो दिन पहले जिसे कोई जानता नहीं था, पहचानता नहीं था, कहीं किसी गाँव में अपने आपको मनुष्य बनाया था, उसी के पूर्वजन्म के किसी सुकृत तथा एक महानुभाव की दया ने उसे राजरानी बना दिया है, अन्यथा उसके भाग्य में क्या बदा था, यह कौन जाने ? आज उसी के कारण एक व्यक्ति ने अपने चिर दिन के आश्रय से विदा ले ली है और उसी के ऐश्वर्य से गाँव की वह भिखारिणी ऐश्वर्यशालिनी बन बैठी है।

जिसके अन्न से आज लाखों भिखारियों की भूख मिट रही है वही आज रोटी के लिए कलकत्ते में नौकरी कर रहा है ! वह व्यक्ति इस तरह चुपचाप अपना अधिकार छोड़कर चला गया और यह नारी होकर उसके सुख के लिए अपना अधिकार नहीं छोड़ सकी ? वे यदि विवाह करके घर लौट आते तो कम से कम दिन भर में एक बार तो उनका दर्शन मिल जाता ! उस अवस्था में उसे इस तरह जलजलकर मरना न पड़ेगा। देवाङ्गनाओं को भी यदि सौत की यन्त्रणा सहनी पड़ी थी तो मानवी होकर वह इसका सहन करने में आना-कानी क्यों करे ? हिन्दू-परिवार की स्त्री स्वामी के सुख के लिए क्या नहीं कर सकती ? हिन्दू-स्त्रियों का तो जन्म ही यन्त्रणा सहन करने के लिए हुआ है। तब भला वासन्ती क्यों न यन्त्रणा सहेगी ? राज्य और ऐश्वर्य के लिए वह भूखी तो है नहीं। जो रमणी पति के प्रेम से वञ्चित हो गई है उसके समान दुर्भाग्य और किसका है ? यन्त्रणा की अधिकता के मारे अनायास ही उसके कपोलों पर से जल की धारा बह चली। अकस्मात् उसके मुंह से निकल गया——दयामय !

प्रातःकाल उठकर वासन्ती ने स्नान आदि किया और राधावल्लभ के चरणों पर मस्तक रखकर कहने लगी——देव, आपमें जो कुछ शक्ति है उसका एक कण मुझे दे दो, जिससे मैं अपना कर्तव्य न भूल सकूँ, आपका दान पहचानने में भूल न कर सकूँ। आप मुझे जो कुछ दें वह भार-स्वरूप न मालूम होने पावे।

यह कहकर बड़ी देर तक वासन्ती देवता के चरणों पर पड़ी रही।

सोलहवाँ परिच्छेद

ताई जी का पत्र

एक दिन रात में चाय की पार्टी से लौटकर सुषमा ने अपनी मा से कहा—मा, तरुदत्त विलायत जा रही हैं। कहा तो मैं भी एक बार उनके साथ घूम आऊँ! नया देश देखने में आवेगा और शरीर भी सुधर जायगा। बाबू जी से मैंने कहा था। उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है। अपनी मा को इस बात पर सहमत कर सको तो चली जाओ। क्या कहती हो मा? घूम आऊँ?

कन्या के मुँह की ओर ताककर माता ने कहा—कहीं ऐसा भी हो सकता है रे पगली? तुझे छोड़कर मैं नहीं रह सकती।

"यही तो तुममें दोष है मा! तरुदत्त की भी तो मा हैं। वे कैसे उन्हें भेज रही हैं? उन्हें शायद कष्ट नहीं होता!"

"क्या सभी लोगों की मनोवृत्ति एक-सी होती है? अनिल के ही भेजने में मुझे संकल्प-विकल्प हो रहा है। अब हम लोग वृद्ध हो चले हैं। इस अवस्था में तुममें से किसी के रहे बिना कैसे चल सकता है? पहले मैं मर जाऊँ तब तुम्हें जहाँ जाना हो, जाना।"

मा की यह बात सुनकर सुषमा ने अभिमान-मिश्रित कण्ठ से कहा—तुम्हारी यही सब बातें सुनकर तो मुझे दुःख होता है। यह बात कहकर उसने मा के हाथ पर मस्तक रख दिया और रुद्ध कण्ठ से कहने लगी—तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी?

"यह क्या रे पगली? तू रोती है? ऐसी लड़की तो मैंने नहीं देखी! क्या मैं सचमुच मरी ही जा रही हूँ? पहले मैं तुम दोनों के विवाह कर दूँगी तब जो होना होगा, होगा।"

सुषमा मा के गले से लिपट गई। वह कहने लगी--तब तुम मुझे छोड़कर कैसे रहोगी? इस समय तो तुमसे नहीं छोड़ा जाता। कैसे मजे में नया नया देश देख आती!

मा ने कन्या का मुँह चूमकर कहा--तू तो नया नया देश देखेगी और मैं तुझे देखे बिना वही पुराना देश लिये रहकर कैसे दिन काटूँगी?

"मैं तो देरी करूँगी नहीं। जल्द ही चली आऊँगी। तुम्हें छोड़कर मैं भी क्या कहीं रह सकती हूँ?"

"ऐसा भी कहीं हो सकता है रे सुषमा! विदेश में, जहाँ कितने दिन रास्ते में ही लग जाते हैं, तुझे अकेली कैसे छोड़ सकती हूँ? पहले विवाह हो जाने दे तब उसी के साथ जाना।"

सुषमा उतावली के साथ बोल उठी--उस समय भी तुम मुझे छोड़कर कैसे रह सकोगी?

तब मा ने मुस्कराहट के साथ कहा--तब तो तुझे देखने के लिए एक आदमी हो जायगा। उसे सौंपकर हम निश्चिन्त हो जायँगे। तब क्या हमारा अधिकार रह जायगा?

मा-बेटी में इसी तरह की बातें हो रही थीं, इतने में अनादि बाबू आ पहुँचे। उन्होंने कहा---अरे भाई, तुमने सुना है न, सुषमा विलायत जाना चाहती है।

पिता के पास जाकर सुषमा ने कहा---देखिए न बाबू जी, मा किसी तरह भी सहमत नहीं होतीं। आप जरा-सा कह क्यों नहीं देते बाबू जी?

अनादि बाबू ने उस समय पत्नी के मुस्कराहट से खिले हुए चेहरे की ओर ताककर कहा---जाने क्यों नहीं देती हो भाई? लड़की को जाने की इच्छा है। तुम उसे स्वीकृति क्यों नहीं देती हो?

"तुम्हीं ने तो लाड़-प्यार के मारे इसे सिर पर चढ़ा रक्खा है। अब मैं समझ गई कि उसे कौन नचा रहा है। अच्छी बात है, तुम यदि भेज सकते हो तो भेज क्यों नहीं देते?"

कन्या की ओर इशारा करते हुए अनादि बाबू ने कहा--तो अब क्या

है रे सुषमा ? आर्डर तो पास हो गया। तो अब तुझे जो कुछ खरीदना हो, चलो आज ही चलकर खरीद ले आवें।

मा के मुँह से कोई बात न निकलते देखकर पिता की ओर दृष्टि करके सुषमा ने कहा––देखिए न बाबू जी, मा रुष्ट हो गई हैं। यह कहकर सुषमा माता के वक्षःस्थल पर मस्तक रखकर कहने लगी––नहीं मा, मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी। तुम बड़ी दुष्ट हो। इतनी बड़ी मैं हो गई हूँ, तो भी तुम मुझे नहीं छोड़ोगी।

क्षण भर के बाद पत्नी की नीरवता भङ्ग करते हुए अनादि बाबू ने कहा––देखो, पटना से अखिल बाबू ने लिखा है, वे सुषमा को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहते हैं। उनका लड़का सुधा अब आई० सी० एस० की परीक्षा देकर विलायत से लौट आया है। शायद सुधा भी सुषमा के साथ विवाह करने के लिए उत्सुक है। अब केवल हमीं लोगों की स्वीकृति या अस्वीकृति पर यह निर्भर है।

सुषमा की माता ने कहा––सुधा लड़का तो बड़ा अच्छा है। विलायत जाते समय हमारे यहाँ दो दिन रह गया है। कितना सरल स्वभाव है उसका। दो ही दिन में उसने सबके हृदय पर अधिकार कर लिया। तुम्हें यदि पसन्द हो तो लिख क्यों नहीं देते। परन्तु ज़रा-सा जाँच-पड़ताल करके ही स्वीकृति देना।

इतने में नौकर ने आकर सूचना दी कि भोजन तैयार है। यह सुनकर सभी लोग भोजन करने के लिए उठ गये।

प्रातःकाल सजी हुई बैठक में बैठी हुई सुषमा समाचारपत्र पढ़ रही थी। इतने में बइरे ने थोड़ी-सी चिट्ठियाँ लाकर रख दीं और वह चला गया। सुषमा एक-एक करके सब चिट्ठियों को पढ़ गई। अन्त में उसे एक ऐसी चिट्ठी दिखाई पड़ी जिसकी लिखावट से वह परिचित नहीं थी। वह चिट्ठी उसके पिता के नाम लिखी गई थी। उसे देखकर सुषमा पहले तो विस्मित हुई, बाद को कई बार उलट-पलट कर उसे वह पढ़ने लगी। उसमें लिखा था––

परमकल्याणवरेषु,

बेटी, मैं तुम्हें जानती नहीं हूँ, तुम्हारा नाम भी नहीं जानती हूँ। अपने देवर से केवल तुम्हारे पिता का नाम सुना था। उसी नाम से चिट्ठी लिख रही हूँ। पता नहीं कि यह चिट्ठी तुम्हें मिलेगी या नहीं। तुम मुझे पहचानोगी भी नहीं। मैं सन्तोष की ताई हूँ। आज मैं बड़ी ही विपत्ति में पड़ी हूँ, इसी से यह पत्र लिख रही हूँ। रानी बेटी, तुम आकर कोई न कोई व्यवस्था कर जाओ।

मेरे देवर ने सारी सम्पत्ति बहू के नाम लिख दी है। इससे रुष्ट होकर सन्तोष ने यह घर त्याग दिया है। कहाँ गया, यह भगवान् ही जानते होंगे। आज प्रायः डेढ़ मास हुआ, उसका कोई समाचार हमें नहीं मिला। सन्तोष जब से गया है तब से बहू कुछ देखती नहीं हैं। आहार तक उन्होंने छोड़ दिया है। मैं किसी तरह भी उन्हें समझा नहीं पाती हूँ।

सुना है कि तुम पढ़ी-लिखी हो। तुममें विद्या-बुद्धि है। ऐसे समय में बेटी, एक बार आकर इस विपत्ति से मेरा उद्धार कर जाओ। तुम यदि किसी तरह बहू को समझा-बुझा सको, तभी कुशल है, नहीं तो सारी जमींदारी नीलाम हो जायगी, बहू भी शीघ्र ही मर जायँगी। हमारे कुटुम्ब से ईर्ष्या करनेवाले लोग चारों ओर हँस रहे हैं। इस बात को बहू समझती नहीं हैं। उनसे कुछ कहा जाय तो कहती हैं, होगा। मुझे जब कहीं और कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा तब आज तुम्हें यह पत्र लिख रही हूँ। मैं आशा करती हूँ कि बेटी, तुम मेरे इस अनुरोध की रक्षा करोगी। मैं क्या करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। तुम यह पत्र पाते ही जिस अवस्था में होओ, उसी अवस्था में चली आओ। बेटी, मैं तुम्हारी भी ताई हूँ। तुम दुःखिनी ताई की बात काटना मत। यहाँ आने में आना-कानी न करना। यदि सम्भव हो तो सन्तोष को भी साथ में लेती आना। इस विषय में अन्यथा न करना।

तुम सब लोग मेरा आन्तरिक आशीर्वाद स्वीकार करना।

आशीर्वादिका—तुम्हारी ताई।

सत्तरहवाँ परिच्छेद

सुषमा और सन्तोष

ताई जी का पत्र पढ़ने पर सुषमा को सन्तोष पर बड़ा ही क्रोध आया। उसके हृदय में सन्तोष के प्रति जो भी श्रद्धा-भक्ति थी वह जाती रही। क्रोध और क्षोभ के मारे उसे बार बार रुलाई आती। वह रह रहकर सोचती—वे इतने निष्ठुर हैं !

निरपराधिनी बासन्ती की शोचनीय अवस्था का हाल जानकर सुषमा भीतर ही भीतर बहुत दुःखी हुई। मन ही मन उसने कहा—छिः ! छिः ! तुम इतने नीच हो ! मैं ऐसा नहीं जानती थी। जिस पुरुष के चरित्र में दृढ़ता नहीं है, भला वह क्यों अपने को पुरुष कहता है ? और फिर उसके जीवित रहने की ही क्या आवश्यकता है ?

साँझ को कालेज से लौटकर सन्तोष अपने कमरे में बैठा हुआ एक पुस्तक पढ़ रहा था। उसका चेहरा बहुत-ही खराब हो गया था। इधर उसे बहुत ही कठोर परिश्रम करना पड़ा था, इससे उसका शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। उसकी अनिन्द्य सुन्दर कान्ति पर मानो किसी ने स्याही गिरा दी थी। एकाएक देखकर अब उसे कोई पहचान नहीं सकता था। उसका मुख सदा ही म्लान और शुष्क रहता था।

सन्तोष एकाग्र मन से पुस्तक पढ़ रहा था, इतने में नौकर ने आकर सूचना दी कि हुज़ूर, एक मेम साहबा आई हैं। यह बात सुनते ही सन्तोष विस्मित हो उठा। इतने में नौकर ने बढ़कर उनके हाथ पर कार्ड रख दिया। सन्तोष ने देखा तो उस पर लिखा था—सुषमा दत्त। तुरन्त ही एक कुर्ता पहनकर वह नीचे गया।

थोड़ी देर के बाद वे दोनों ही ऊपर के कमरे में आकर कुर्सी पर बैठे। बाद को सन्तोष ने कहा—आप आवेंगी, ऐसा मैंने—

उसकी बात काटकर सुषमा ने कहा—क्यों? क्या मेरा आना इतना असम्भव है?

सन्तोष ने कहा—असम्भव तो है ही।

उस बात को टालती हुई सुषमा ने कहा—सन्तोष भाई, मैं एक विशेष कार्य के सम्बन्ध में बातचीत करने के विचार से आपके पास आई हूँ। मैं आपसे कुछ बातें करना चाहती हूं। सम्भव है कि वे बातें आपको अप्रिय मालूम पड़ें, किन्तु मैं आशा करती हूं कि इसके लिए आप मुझसे असन्तुष्ट न होंगे।

सुषमा की बातें सुनकर सन्तोष का हृदय काँप उठा। उसके शरीर का समस्त रक्त मस्तक की ओर दौड़ पड़ा, मुंह और आँखें लाल हो उठीं। बड़ी कठिनाई से उसने अपने आवेग को रोका और कहने लगा—आपको जो कुछ कहना हो वह निःसङ्कोच होकर कहें। यदि वह मुझे अप्रिय होगा, तो भी मैं अप्रसन्न न हूँगा।

तब सुषमा ने गम्भीर स्वर से कहा—सन्तोष भाई, आपने विवाह क्यों किया है?

सुषमा का प्रश्न सुनकर पहले तो सन्तोष चकित हो उठा, वह सोचने लगा कि इतने दिनों के बाद मुझसे इस तरह की बात सुषमा के पूछने का क्या कारण है? वह कुछ समझ न सका। जरा देर तक चुप रहकर उसने कहा—आप यह बात क्यों पूछ रही हैं?

सुषमा ने कहा—पूछने में क्या कोई हानि है? आप अप्रसन्न न हों। मेरा कुछ मतलब है, इसी से पूछ रही हूँ।

सन्तोष ने धीर कण्ठ से कहा—नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि पूछने में हानि है। तो भी—तो भी—

सुषमा ने दृढ़ कण्ठ से कहा—आपके मन में शायद यह बात आती होगी कि इतने दिनों के बाद मैं इस तरह की बात क्यों पूछ रही हूँ। परन्तु आवश्यकता ही ऐसी पड़ गई है जिससे मुझे पूछना पड़ा। आप मुझे यह बतला दीजिए कि आपने विवाह क्यों किया?

सन्तोष ने रुद्ध कण्ठ से कहा—पिता जी की आज्ञा के कारण किया था।

सन्तोष की यह बात सुनकर सुषमा ने संयत कण्ठ से कहा—जब आपने विवाह कर ही लिया तब पत्नी का इस प्रकार परित्याग क्यों कर दिया ? क्या इस सम्बन्ध में भी आपके पिता की ऐसी ही आज्ञा थी ?

सन्तोष ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उसे चुप देखकर सुषमा ने फिर कहा—आप यदि यह समझते थे कि विवाह करके मैं स्त्री को सुखी न कर सकूंगा तो उसके साथ विवाह ही क्यों किया ?

सन्तोष ने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—मेरी इच्छा नहीं थी। पिता जी ने ज़ोर करके—

उसकी बात काटकर सुषमा ने कहा—क्या कोई किसी से ज़बर्दस्ती कोई काम करवा सकता है ? यह तो बच्चों को भुलावा देने की-सी बात है। मन क्या किसी के बल के वशीभूत होता है ? क्या उस समय किसी ने आपको बन्दी कर रक्खा था ? क्या उस समय आपके हाथ-पैर निश्चेष्ट थे ? विवाह करने की इच्छा नहीं थी तो क्या आप चले नहीं आ सकते थे ? क्या आप पुरुष हैं ?

सन्तोष ने रुद्धप्राय कण्ठ से कहा—भूल—मैंने भूल की है, उसी का अब प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। मैंने अनुचित कार्य किया है, इसी से तो अपने आपको दूर-दूर रखता हूँ। क्या इससे भी मेरे पापों का प्रायश्चित्त न होगा ?

सुषमा ने उत्तेजित कण्ठ से कहा—नहीं। आपके पाप का प्रायश्चित्त नहीं है। एक पाप का प्रायश्चित्त करते-करते आपने और भी कितना पाप कर डाला है, क्या इसका पता आपको है ? अपनी क्षण भर की दुर्बलता के कारण आपने एक अबोध बालिका का किस प्रकार सर्वनाश कर डाला है, क्या इस बात पर आपने कभी विचार किया है ? यह पानी का दाग़ नहीं है सन्तोष भाई, यह ईश्वर का दिया हुआ बन्धन है। इस बन्धन को छुड़ाकर कभी कोई भी नहीं भाग सका।

आप भी न भाग सकेंगे। समझ रखिए, आपने आज जिसे तुच्छ समझ रक्खा है और त्याग कर इतनी दूर चले आये हैं, सम्भव है कि वह इतनी तुच्छ न हो। कदाचित् कभी कोई ऐसा भी दिन आवेगा जब आप उसी तुच्छ और निरर्थक वस्तु को जीवन की सर्वोत्कृष्ट वस्तु के रूप में ग्रहण करने के लिए वाध्य होंगे।

सुषमा ने फिर कहना आरम्भ किया—क्या यही आपकी न्यायनिष्ठा है? क्या यही पुरुषोचित आदर्श है? क्या यही आपका आत्मसंयम है? जिसमें स्वयं जिस कष्ट के सहन करने की शक्ति नहीं है वही कष्ट सहन करने का अवसर वह दूसरे को कैसे देता है? देवता, ब्राह्मण और अग्नि को साक्षी देकर पवित्र वेद-मन्त्रों के उच्चारण के साथ आपने जिसके सुख-दुःख का भाग लिया है, दुःख-दुर्दशा के समय जिसकी रक्षा करने का सङ्कल्प किया है, आज उसी को एक अनाथिनी के रूप में विपत्ति के सागर में छोड़कर चले आये हैं, क्या ऐसा करते समय आपकी अन्तरात्मा कम्पित नहीं हुई, आपके विवेक ने क्या आपको रोका नहीं? विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए मनुष्य का क्या यही आदर्श है?

सन्तोष अभी तक सुषमा की सारी बातें चुपचाप सुनता जा रहा था। उसे विराम लेती देखकर वह बोल उठा—मैं भी यह सब समझता हूँ सुषमा, किन्तु मन को अपने वश में नहीं कर पाता हूँ। मैंने अपनी मनोवृत्ति बदलने के लिए यथेष्ट प्रयत्न किया है, परन्तु, पता नहीं क्यों, मेरा सारा प्रयत्न निरर्थक हो जाता है, लाख प्रयत्न करने पर भी मैं अपने आपको लौटाल नहीं पाता। क्या तुम मेरी इस बात पर विश्वास करती हो?

सुषमा ने रुद्ध कण्ठ से कहा—नहीं, मैं आपका विश्वास नहीं करती।

सन्तोष का कण्ठ सूख गया। वह कहने लगा—क्यों? मेरा अपराध?

सुषमा ने कहा—आप यदि विश्वास करने योग्य कार्य करते तो मैं अवश्य आपका विश्वास करती, परन्तु आपने तो ऐसा कार्य किया

नहीं है ! मैं किस तरह आपका विश्वास करूँ ? क्या आपने बिवाहिता पत्नी के साथ विश्वासघात नहीं किया ? विश्वासघात किया है या नहीं, यह आप अपने हृदय से ही पूछिए । वही आपको उचित उत्तर देगा। साध्वी का निर्मल और उज्ज्वल प्रेम जिसे उसने विवाह के दिन पूर्ण विश्वस्त हृदय से आपको अर्पित किया है, उस विश्वास का क्या यही पुरस्कार है ? समझ रखिए, इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं है। समझ रखिए, यह अपराध अक्षम्य है ।

सन्तोष आर्त्त कण्ठ से बोल उठा—बस, बस, रहने दीजिए। आप मुझे इतना नीच समझती हैं ! आपकी यह धारणा गलत है ! मैं और चाहे कुछ भी होऊँ, पर विश्वासघातक नहीं हूं। सन्तोष यह बात बड़ी कठिनाई से कह सका। अन्त में उसने अपना मुंह फेर लिया।

सुषमा के नेत्रों में जल आ रहा था। परन्तु उसने अपने आपको सँभाल लिया और कहने लगी—विश्वासघात नहीं तो इसे आप और क्या कहना चाहते हैं ? उसके ऊपर यदि आपका यथार्थ प्रेम होता तो क्या आप उसके साथ ऐसा निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार कर सकते थे ? पवित्र प्रेम तो मनुष्य को कर्त्तव्य से भ्रष्ट करता नहीं। वह तो कर्त्तव्य का पालन करने की शिक्षा देता है। कामनाहीन प्रेम ही मनुष्य के हृदय में उच्चता ले आता है। हिन्दू-शास्त्र के अनुसार प्रेम पवित्र है, वह आकांक्षा से रहित है। जो व्यक्ति आकांक्षा और कामना का दमन करने में समर्थ होता है वही संसार में देवत्व प्राप्त कर सकता है। आप पुरुष होकर कहते हैं कि मुझसे नहीं होता। यह कैसी बात है ? मैं आपका विश्वास कैसे करूँ ? जो अपने चित्त को वशीभूत करने में समर्थ नहीं हो पाता उसका क्या कभी कोई विश्वास करता है ? पुरुष होकर यदि आप इस तरह बच्चे का-सा काम कर सकते हैं तो भला वह कोमल हृदयवाली बालिका कैसे इतना बड़ा कष्ट सहन कर सकती है ?

सन्तोष ने कहा—आप जिसकी ओर से इतनी वकालत कर रही हैं, शायद वह इसे इतना नहीं समझती।

सुषमा ने कम्पित कण्ठ से कहा—यह बात आप मन में न आने दीजिएगा। अवस्था के प्रभाव से यह भाव अपने आप ही जाग्रत हो उठता है। किसी को उसे पल्लवित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह तो मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। आप उसे जितनी भोली समझते हैं, उतनी वह है नहीं। क्या आपने कभी उसका मनोभाव जानने का प्रयत्न किया है? वह आपको कितना प्यार करती है, यह जानने की कभी चेष्टा की है? आप तो अन्धे हैं। आपमें समझने की शक्ति कहाँ से आवे? आप जानते हैं कि आपके लिए उसने सर्वस्व त्याग दिया है, संन्यासिनी बन गई है, आपके ध्यान न देने के कारण सारी सम्पत्ति नष्ट होती जा रही है। क्या आपको उसकी ख़बर है? आप जानते हैं कि आपने उसके साथ कैसा अन्याय किया है?

सन्तोष का मुँह सूख गया। उसने दबी आवाज़ से कहा—पिता जी ने पकड़कर जब उसके साथ विवाह कर दिया तब मैं क्या करूँ? इसमें मेरा क्या अपराध है?

सुषमा ने रोषमय स्वर में कहा—अपने पिता के अपराध के लिए आप उसे दोषी ठहरा रहे हैं? आपके पिता ने जो कुछ उचित समझा वही किया। उसके लिए तो वह दण्ड भोगेगी नहीं। आज तक मैं आपको मनुष्य समझती थी, परन्तु अब देखती हूँ कि आप पशु से भी अधम हैं। एक स्त्री के शरीर में जितनी दृढ़ता है, आपमें उतनी भी नहीं है।

सन्तोष उस समय सोच रहा था, मैं क्यों पशु हो गया हूँ, यह यदि वह जान पाती तो मुझसे ऐसा न कह सकती।

सुषमा ने फिर कहा—जो हो गया उसे अब जाने दीजिए। पुरानी बातों को भूल जाने में ही लाभ है। अब मेरा अनुरोध है कि आप उसे सुखी करने का प्रयत्न कीजिए।

दोनों हाथों से मुँह ढँककर सन्तोष ने कहा—जानती नहीं हो।

तुम जानती नहीं हो। मैं ऐसा न कर सकूंगा, मुझे क्षमा कीजिए। मुझसे ऐसा न हो सकेगा।

आवेग से रुँधे हुए कण्ठ से सुषमा ने कहा—सन्तोष भाई, मैंने आपको बहुत कुछ कह डाला। इसके लिए बुरा न मानिएगा। आज बहुत विलम्ब हो गया है। मैं अब चलती हूँ। कल सिराजगंज जा रही हूँ। आपको भी चलना होगा। आप स्टेशन पर रहिएगा।

सुषमा जाकर—मोटर पर बैठ गई।

अठारहवाँ परिच्छेद

सुषमा और वासन्ती

जेठ का महीना था। दोपहर के समय पानी का एक ज़ोर का लहरा आ गया था, बाद को फिर धूप हो आई। घास के ऊपर पानी की जो बूँदें पड़ी थीं उनके ऊपर सूर्य की किरणें आ आकर पड़ रही थीं, इससे ऐसा जान पड़ता था, मानो मोती के लाखों दाने वहाँ पड़े चमचमा रहे हैं। नदी के तट पर पाट से बोझी हुई अगणित नौकायें धीर मन्थर गति से तैरती चली जा रही थीं। यमुना उमड़ कर बह रही थीं। पाट की नौकायें अहङ्कार से तुषार के समान शुभ्र वक्षःस्थल फुलाकर तीर के-से वेग से चली जा रही थीं। यात्री लेकर स्टीमर आते और चले जाते। दिन का कार्य समाप्त करके वासन्ती शून्य हृदय से नदी की ओर ताक रही थी। कितनी नौकायें आतीं और चली जातीं। स्टीमर पर कितने आदमी आते और कितने जाते। परन्तु उसके पास तो कोई भी नहीं आता। इस विशाल जगत् में उसका अपना कहने को कोई भी नहीं था। संकट-विपत्ति में, दुःख-दुर्दशा में, ऐसा कोई भी नहीं था जो मस्तक उठाकर उसकी ओर देखता। उसके अपना कहने के जो केवल एक व्यक्ति थे वे तो बहुत दिन पहले ही उससे ममता त्यागकर किसी अज्ञात, अपरिचित देश को चले गये हैं। और एक व्यक्ति हैं, किन्तु वे कहाँ हैं ?

अतीत की पुरानी स्मृति वासन्ती के हृदय में उदित होकर मानो उसे विक्षिप्त कर रही थी। उसके किसी प्रकार का प्रयत्न न करने पर भी उसकी आँखों की पलकें अपने आप भीग रही थीं। वासन्ती ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—इस तरह और न जाने कितने दिनों तक—

वासन्ती की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि पीछे से उसके कन्धे पर हाथ रखकर किसी ने कहा---अब अधिक दिन नहीं हैं बहन।

वासन्ती चौंक उठी। उसने घूमकर देखा। बगल में एक अनिन्द्य सुन्दरी युवती खड़ी थी। और भी देखा कि हास्य से उज्ज्वल उसके नीले कमल के समान दोनों नेत्र उसी की ओर अनिमेष दृष्टि से ताक रहे हैं। स्वच्छ दाँतों की पंक्ति की आड़ से शुभ्र हँसी की रेखा उसके रक्त बिम्ब इव अधर तथा ओष्ठ पर विकसित हो रही है। अकस्मात् वासन्ती के मुँह से निकल गया---तुम, आप कौन हैं?

सुषमा ने अपने दोनों ही विशाल नेत्र उठाकर वासन्ती के मुख-मंडल पर रखते हुए कहा---मैं हूँ सुषमा।

वासन्ती एक दृष्टि से सुषमा का अनुपम रूप देख रही थी। उसका क्षीण शरीर फ़िरोज़ी रंग की साड़ी से ढँका हुआ था। उसी रंग का एक ब्लाउस भी उसके शरीर पर था। ब्लाउस और साड़ी को भेद कर उसके भीतर से सैकड़ों खिले हुए कमलों की आभा निकल रही थी। मुँह उससे भी सुन्दर था। दोनों भौंहों के नीचे दो नील वर्ण के नेत्रों के बीच में भ्रमर के समान कृष्ण तारका उज्ज्वल हो उठी थी। उसके नेत्र की चितवन तीव्र थी, साथ ही मधुर भी।

वासन्ती ने अपने दोनों कोमल हाथ सुषमा के गले में डालकर कहा---आप आई हैं दीदी!

सुषमा ने मृदु कण्ठ से कहा---तुमने जब मुझे हृदय से बुलाया है तब भला क्या मैं आये बिना रह सकती हूँ बहन? यह कहकर सुषमा आवेग में आकर वासन्ती से लिपट गई।

वासन्ती ने कहा---दीदी, क्या आपको ताई जी ने देखा है?

सुषमा ने कहा---वे ही तो मुझे तुम्हारा कमरा दिखला गई हैं? तुम इतनी चिन्तामग्न थीं कि मेरे आने की आहट ही न पा सकीं। तुम इतना क्या सोच रही थीं भाई!

वासन्ती ने एक रूखी हँसी हँसकर कहा—कुछ तो नहीं। मैं तो कुछ नहीं सोच रही थी भाई।

वासन्ती की यही एक बात कि 'मैं कुछ नहीं सोच रही थी भाई' मानो सुषमा को उसकी सारी वेदना समझाये दे रही थी। सुषमा सोचने लगी—क्या पुरुष इतने हृदय-हीन होते हैं? क्या उनके शरीर में ममता-मोह नहीं होता? यह निरपराध बालिका इतने दिनों तक इस प्रकार उपेक्षित अवस्था में डालकर कितनी यन्त्रणा सहन करने के लिए बाध्य की जा रही है? बाद को सुषमा ने कहा—वासन्ती, मैं तुम्हें तुम कह कर पुकार रही हूँ, इसके लिए शायद तुम बुरा न मानती होओगी। तुमने मुझे दीदी कहा है, इसी से मैं इस तरह का साहस कर सकी हूँ। आशा करती हूँ, इससे तुम रुष्ट न होओगी।

वासन्ती ने आग्रहपूर्ण स्वर से कहा—आप तो मेरी दीदी हैं। आपसे भला मैं कभी रुष्ट हो सकती हूँ?

सुषमा ने देखा कि ताई जी ने जो कुछ लिखा है, वह ठीक ही है। वासन्ती के पास बहुमूल्य अलङ्कार होने पर भी उसके हाथों में थोड़ी-सी रंगीन चूड़ियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शरीर पर एक मोटी-सी लाल रंग की साड़ी है, वह भी मैली है। तेल न पड़ने के कारण उसके मस्तक की रूखी केश-राशि मुंह के चारों ओर उड़-उड़ कर नाच रही है। सुषमा सोच रही थी कि ऐसा भुवनमोहन रूप है कि देखकर नारी का भी चित्त लुभा जाता है, परन्तु वही रूप लेकर वासन्ती स्वामी को नहीं आकर्षित कर सकी। गत जीवन में उस बेचारी से ऐसा कौन-सा पाप हो गया था कि वह अपने समस्त अधिकारों से वंचित हो गई। उसे बड़ी देर तक चुप सोचती देखकर वासन्ती ने कहा—चलिए दीदी, स्नान करके कुछ खा लीजिए न।

बिना कुछ कहे-सुने सुषमा ने वासन्ती का अनुसरण किया। स्नान करके उसने कपड़े बदले और फिर वह वासन्ती के साथ ताई जी के पास गई। ताई जी ने एक तश्तरी में तरह-तरह के फल और

मिठाइयाँ सजाकर वासन्ती के सामने रख दीं। वासन्ती ने धीमे स्वर से कहा—आप शायद चाय पीती हैं।

सुषमा ने एक मुस्कराहट के साथ कहा—पीती ज़रूर हूँ, परन्तु चाय के बिना भी काम चल सकता है। मैंने कोई ऐसा अभ्यास नहीं डाल रक्खा है जिसके बिना काम न चल सके।

ताई जी से पैसे लेकर चाय मँगवाने के लिए वासन्ती कुसुमी नौकरानी को खोजने चली गई। इस बीच में ताई जी ने सुषमा से कहा—बिटिया, तुम ज़रा बहू को समझा दो। मैंने तो इतना प्रयत्न किया, किन्तु उसे रास्ते पर न ले आ सकी। ज़मींदारी का कारबार तो वह कुछ देखती ही नहीं, इधर खाना-पहनना भी उसने एक प्रकार से छोड़ ही दिया है। बाबू जी जब तक जीवित थे तब तक वह खाने-पहनने की ओर थोड़ा बहुत ध्यान भी रखती थी। अब तो उसे एक-दम वैराग्य ही हो गया है। यदि ज़ोर देकर कहा जाय तो आँसुओं की झड़ी लगा देती है। उसकी इस प्रकार की मनोवृत्ति देखकर मुझे बड़ा भय हो रहा है। इसी लिए मैंने उतावली के साथ तुम्हें चिट्ठी लिखी थी। अब तुम, जो कुछ उचित समझो, इसका प्रबन्ध करो।

सुषमा ने कहा—आप अब चिन्ता न कीजिए ताई जी। मैं जब आ गई हूँ तब कोई न कोई प्रबन्ध करूँगी ही।

ताई जी ने ज़रा-सा सङ्कोच के साथ पूछा—क्या सन्तोष से तुम्हारी मुलाक़ात होती है?

सुषमा ने कहा—जी हाँ, आपका पत्र पाकर मैं उनके पास गई थी। उनका चेहरा बहुत ख़राब हो गया है। इसके सिवा वे घर से बिलकुल निकलते ही नहीं। मेरे भैया प्रायः वहाँ जाया करते हैं। वे कहा करते हैं कि बड़ी बकझक करके भी मैं उन्हें घर से बाहर नहीं कर पाता हूँ। पता नहीं क्यों, वे किसी प्रकार भी कहीं जाना नहीं चाहते। मैंने उनसे यहाँ आने के लिए कहा था, परन्तु वे आये नहीं।

ताई जी ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—क्या उसका चेहरा बहुत खराब हो गया है ?

सुषमा ने कहा—जी हाँ, कुछ खराब तो ज़रूर हो गया है।

ताई जी ने फिर कहा—पता नहीं बिटिया, भाग्य में क्या लिखा है। उसके माता-पिता तो चले गये। मेरे भाग्य में यह सब देखना बदा था, इसलिए मैं जीवित हूँ। मेरी मृत्यु भी नहीं होती। इतना कहकर वे अञ्चल के छोर से आँखें पोंछने लगीं।

ताई जी को रोती देखकर सान्त्वना के ब्याज से सुषमा ने कहा—आप चिन्ता न करें ताई जी। शायद पिता की मृत्यु के कारण वे इतने अधिक दुःखी हो गये हैं कि उनकी मानसिक अवस्था इस प्रकार अस्तव्यस्त हो गई है। इसके सिवा वे एक बड़े आदमी के लड़के हैं। कोई काम करने का अभ्यास तो कभी था नहीं। इधर उन्होंने नौकरी कर ली है। ऊपर से पढ़ाई का भी भार है। इसी लिए उनका शरीर और खराब हो गया है।

ताई जी ने क्षुब्ध कण्ठ से कहा—यह भी उसका भाग्य है बिटिया। इतने बड़े राज्य और ऐश्वर्य का जो स्वामी है वह आज मुट्ठी भर अन्न के लिए नौकरी करता है! क्या कहूँ बिटिया, बहू यही सब बातें सोच सोच कर तो दुःखी होती है। वह कहती है—बाबू जी ज़रा भी तो विचार करते!

इतने में वासन्ती ने आकर कहा—ताई जी, नन्द की मा कहती है कि आपको दादा-भाई (दीवान जी) बुला रहे हैं।

"आती हूँ" कहकर ताई जी उठ गईं।

वासन्ती तब सुषमा को लेकर बरामदे में आई और वहीं बैठ गई। तब सुषमा ने वासन्ती से कहा—वासन्ती, तुम ज़रा-सा जलपान कर लो।

वासन्ती ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा—मैं बड़ी देर बाद खाती हूँ दीदी, इसलिए मैं इस समय जलपान न कर सकूँगी।

सुषमा ने अपनी सुन्दर सुन्दर नीली आँखें वासन्ती के मुँह पर गड़ा-

कर कहा—बहन, तुम इस तरह अपना शरीर क्यों गिरा रही हो ? क्या इससे कोई लाभ है ?

वासन्ती ने मृदु कण्ठ से कहा—ऐसा मैं किसी कारण-विशेष से नहीं करती हूँ। पता नहीं क्यों, मुझे कुछ अच्छा ही नहीं लगता।

एक हलकी-सी साँस लेकर सुषमा ने कहा—अच्छा न लगने पर भी ज़ोर देकर अच्छा लगवाना पड़ेगा। बाबू जी तुम्हारे ऊपर कितना बड़ा कर्त्तव्य-भार छोड़ गये हैं, इसका तुम अनुभव करती हो ? देखो बहन, बुरा न मानना। तुम्हारे ध्यान न देने से सारी सम्पत्ति नष्ट हुई जा रही है। दूसरे लोग इच्छानुसार कुछ भी करें, किन्तु उसके लिए हम क्यों कर्त्तव्यहीन हों ? तुम्हारे भाग्य ने जब तुम्हें इसी मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया है तब इस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त तुम्हारे पास और क्या उपाय है ?

वासन्ती को चुप देखकर सुषमा ने फिर कहना आरम्भ किया—बाबू जी जब पुत्र को अधिकार से वञ्चित करके तुम्हारे ऊपर समस्त भार छोड़ गये हैं तब क्या उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करना तुहारे लिए उचित है ? जानती हूँ बहन, तुम्हें कितना कष्ट है। यह मैं खूब समझती हूँ। किन्तु अपने अदृष्ट की गति को फेरने का जब कोई साधन नहीं है तब निरर्थक शरीर के ऊपर तथा दूसरों के ऊपर निष्ठुरता करना हमारे लिए क्या उचित है ? विधाता मङ्गलमय हैं, वे जो कुछ करते हैं, हमारे मंगल के लिए ही करते हैं। इस विषय में उनके ऊपर दोषारोपण करना हमारे लिए किसी प्रकार भी उचित नहीं है। हम अज्ञानी हैं, इसी लिए बीच-बीच में उन पर दोषारोपण करते रहते हैं। परन्तु वे सदा ही हमारे मंगल के लिए व्यस्त रहते हैं। परन्तु हम अन्धे हैं। उनका सूक्ष्म विचार समझने की शक्ति हममें कहाँ है ? इसी लिए वे जो कुछ करते हैं उससे क्षुब्ध न होना चाहिए। मनुष्य के लिए एकमात्र उपाय धैर्य है। उस धैर्य से तुम इस तरह विचलित क्यों हो रही हो ?

वासन्ती ने कहा—सब समझती हूँ दीदी, किन्तु मुझसे होता नहीं। पता नहीं क्यों मेरा—वह आगे न कह सकी और सुषमा की गोद में मुँह छिपाकर रोने लगी।

वासन्ती को रोती देखकर सुषमा ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—छिः भाई! रोती हो? रोना ठीक नहीं है। स्त्री का कहीं अभिमान चलता है? तुमसे अकेले न हो सके तो कोई बात नहीं, तुमने मुझे दीदी कहकर पुकारा है, इससे हम-तुम दोनों ही बहनें आज से सारे काम-काज एक साथ सँभालेंगी। ठीक है न? तब तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी?

सुषमा की ओर प्रार्थना-पूर्ण दृष्टि से ताकती हुई वासन्ती ने कहा—दीदी, तो आज से मैं अकेली—

वासन्ती जो कुछ कहना चाहती थी वह उसके मुँह से निकल न पाया। आँसुओं की अविराम धारा ने आकर उसका कण्ठ रुद्ध कर दिया। हाथ से वह अपना मुँह ढँक लेना चाहती थी, किन्तु सुषमा उसके गले में हाथ डालकर उससे लिपट गई। उसने कहा—हाँ भाई, आज से हम-तुम दोनों ही एक मा के पेट की बहनें हैं। परन्तु बड़ी बहन की बात माननी पड़ेगी। तुम्हें मैं इस तरह से अपना शरीर नष्ट करने न दूँगी। बोलो, मेरी बात मानोगी?

वासन्ती ने कहा—मुझसे यह नहीं होता दीदी। मैं अपने मन को समझाने के लिए इतना प्रयत्न करती हूँ, किन्तु फिर भी—

वासन्ती की बात काटकर सुषमा ने कहा—यह नहीं होगा बहन, सहन करना ही पड़ेगा। उसके सिवा तुम्हारे लिए और कोई उपाय नहीं है। तुम्हें क्या सहन करना पड़ रहा है? कितनी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो तुम्हारी अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक क्लेश सह रही हैं। क्या तुम्हें उनका पता है?

वासन्ती ने कम्पित कण्ठ से कहा—मेरे समान अभागिनी और कोई नहीं है।

यह कहकर उसने फिर सुषमा की गोद में मुँह छिपा लिया।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

बुआ जी की चिन्ता

इलाहाबाद में गङ्गा-यमुना के सङ्गम से कुछ ही दूर पर रमाकान्त मित्र का मकान था। वह मकान था तो छोटा, किन्तु देखने में वैसा खराब नहीं था। थोड़ी जगह में भी वह बहुत ही उत्तम ढंग से बनाया गया था। मकान में ऊपर-नीचे मिलाकर कुल आठ-दस कमरे थे। सामने थोड़ी-सी ज़मीन भी पड़ी थी, जिसमें तरह-तरह के फूल और साग-तरकारियाँ लगी हुई थीं। वह घर सन्तोष के फूफा जी का था। उन्होंने इलाहाबाद में और भी दो-तीन मकान बनवा रक्खे थे। वे सब इससे बड़े थे और शहर के बीच में थे, इसलिए उन्हें किराये पर उठाकर वे इसी मकान में रहते थे।

रमाकान्त बाबू ने वकालत से बहुत-सा रुपया कमा लिया था। लक्ष्मी की कृपा तो उन पर थी ही, साथ ही यहाँ प्रतिष्ठा भी उनकी अच्छी थी। इलाहाबाद के वे एक बहुत ही प्रसिद्ध वकील थे। आदमी भी वे कोई बुरे स्वभाव के नहीं थे। वे बहुत ही सरल थे। उनकी सरलता के ही कारण इलाहाबाद के प्रायः सभी लोग उनसे बहुत ही अधिक स्नेह किया करते थे।

रमाकान्त बाबू थे तो बहुत ही सुजन व्यक्ति, किन्तु जैसे वे सरल थे, वैसे ही गम्भीर भी थे। अपना खर्च वे बड़े हिसाब से रखते थे। एक दृष्टि से तो वे सीधे थे, किन्तु दूसरी दृष्टि से बहुत ही कड़े थे। बातें बनाना, अधिक बकबक करना या नियम-सम्बन्धी अवहेलना करना, उन्हें बिलकुल ही पसन्द न था। परिवार के लोगों की ओर वे कड़ी निगाह रखते थे। एकान्त उन्हें अधिक पसन्द था, इसलिए वे शहर से दूर मकान बनवाकर यहाँ रहते थे। सन्तोष की बुआ महामाया

स्वामी की उपयुक्त पत्नी थीं। वे स्वामी की आज्ञा या रुचि के प्रतिकूल कोई भी कार्य नहीं करती थीं। उनके पुत्र-कन्या भी माता के समान ही शान्त प्रकृति के थे।

महामाया के दो कन्यायें थीं और केवल एक पुत्र था। ज्येष्ठ कन्या विवाह से चार वर्ष के बाद ही विधवा हो गई थी। कनिष्ठ पुत्री तथा पुत्र का विवाह अभी तक नहीं हुआ था। पुत्र आजकल बी० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। कन्याओं में से एक का नाम चमेली था और दूसरी का शेफाली। रमाकान्त बाबू कनिष्ठ कन्या तथा पुत्र का विवाह एक साथ ही करना चाहते थे। दोनों के लिए ही क्रमशः वर तथा कन्या ठीक हो चुकी थी। यह भी स्थिर हो चुका था कि अगहन में विवाह होगा। राधामाधव बाबू की मृत्यु के समय कनिष्ठ कन्या की रुग्णता के कारण रमाकान्त बाबू जा नहीं सके थे। अब उसकी तबीअत ठीक हो गई थी। राधामाधव बाबू के पिता मृत्यु के समय कुछ नक़द रुपया और ज़मीन कन्या को दे गये थे।

पिता के घर में महामाया का बड़ा आदर था। फिर भी वे इतनी सरल थीं, और आलस्य छोड़कर इस प्रकार सबकी सेवा किया करती थीं कि सभी लोग मुग्ध हो जाते। वे एक घंटा भी विश्राम नहीं करती थीं। रमाकान्त बाबू की आदत थी कि स्त्री के अतिरिक्त और किसी का लगाया हुआ पान या तैयार की हुई जलपान की सामग्री नहीं खाते थे। जिस दिन स्त्री की तबीअत खराब हो जाती उस दिन वे एक प्रकार से भूखे ही रह जाते।

क्वार का महीना था। इलाहाबाद में उस समय भी ज़ोर की गर्मी थी। रमाकान्त बाबू भोजन कर रहे थे। पास ही गृहिणी एक पंखा लिये बैठी थीं। रमाकान्त बाबू को किसी वस्तु का अभाव था नहीं। वे इलाहाबाद के एक प्रतिष्ठित धनी थे। अपने भाग्य की ही बदौलत वे इतने ऐश्वर्य के अधीश्वर बन बैठे थे। किन्तु विधाता किसी को अखण्ड सुख तो देता नहीं। इतने ऐश्वर्यशाली होने पर भी

रमाकान्त बाबू को जब कन्या के वैधव्य की याद आती तब उनके हृदय में बाण-सा लगता।

भोजन करते-करते रमाकान्त बाबू ने कहा—सन्तोष ने आज एक चिट्ठी लिखी है।

गृहिणी ने कहा—क्या लिखा है?

रमाकान्त बाबू ने गम्भीर कण्ठ से कहा—उसने बड़े दुःख के साथ यह चिट्ठी लिखी है। शायद उसने कहीं नौकरी कर ली है। शरीर भी अच्छा नहीं है। इससे यहाँ आने का उसका विचार है। यही सब लिखा है। और क्या?

महामाया ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—भैया की करतूत तो है। देखो न उन्होंने कैसा अनर्थ कर डाला! कहीं कोई लड़के के हृदय पर इतना प्रबल आघात पहुँचाता है? वह देश त्यागकर कहीं चला नहीं गया, यही बहुत बड़ी बात है। एक-दम उसे अधिकार से वञ्चित कर देना उचित नहीं था। कुछ उसके भी नाम लिख गये होते, कुछ बहू के नाम भी लिख देते, बस इतने में ही झगड़ा टूट जाता।

रमाकान्त बाबू ने कहा—लड़का उच्छृङ्खल हो गया था, उनकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करता था, शायद इसी लिए रुष्ट होकर वे उसे इस तरह का दण्ड दे गये हैं।

"इस तरह भी कहीं दण्ड दिया जाता है, जिससे सारे संसार में हँसी हो? इतने बड़े आदमी का लड़का होकर आज पेट के लिए दूसरे की नौकरी कर रहा है। क्या इससे उनका नाम बढ़ रहा है? इधर बहू अभी लड़की ही है। उसमें कहाँ इतना ज्ञान है कि वह जमींदारी सँभाल सके?

रमाकान्त बाबू ने कहा—यह तो ठीक बात है। जमींदारी का काम इतना टेढ़ा होता है कि उसे अच्छी तरह हमीं लोग नहीं समझते, फिर भला वह लड़की बेचारी क्या समझ सकेगी?

महामाया दुःखी भाव से कहने लगी—भाभी ने उस दिन यही सब

तो लिखा था। उनकी चिट्ठी से मालूम होता है कि वह कुछ देखतीं नहीं, वे सदा ही कमरे में बैठी रोती रहती हैं। उन्होंने खाना-पहनना तक छोड़ दिया है। दो-एक जगह की जमीन क़रीब-करीब नीलाम-सी हो गई है। दादाभाई कभी कुछ पूछने जाते हैं तब वे कुछ बोलतीं ही नहीं। जब यह अवस्था है तब भला कैसे जगह-जमीन रह सकेगी ?

रमाकान्त बाबू ने कहा—अच्छा ! ऐसी बात है ? तब क्या करना होगा। मैं तो समझता था कि वह बुद्धिमती है।

महामाया ने कहा—बुद्धि तो मेरी ही जैसी है। इसके सिवा अभी वह लड़की ही तो है। उसकी समझ ही क्या है ? भैया कभी ठिकाने से तो कोई काम करते नहीं थे। तुमसे पूछते तो शायद तुम कुछ सलाह भी देते। परन्तु ऐसा तो उन्होंने किया नहीं। उन्होंने यह सब छिपकर कर डाला, हम लोगों को पता तक न चल सका।

रमाकान्त बाबू ने जरा-सा विनोद के भाव में आकर कहा—तुममें बुद्धि नहीं है, यह बात दूसरे लोग चाहे भले न कहें, किन्तु मैं इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। भाग्य से ही तुमने मेरे साथ विवाह किया है, नहीं तो—

स्वामी की इस बात से रुष्ट होकर महामाया ने कहा—रहने भी दो। तुम्हें तो बात-बात में मजाक ही सूझता है। अपनी बराबरी का लड़का हो गया। अब भी इस तरह का ठट्ठा तुम्हें अच्छा लगता है !

रमाकान्त बाबू ने जरा-सा परिहास के स्वर में कहा—करूँ क्या भाई ? मेरी आदत ही ऐसी हो गई है। बुरा न मानो। मेरा कुछ ऐसा स्वभाव हो गया है कि जब तुम्हें देखता हूँ तब जरा-सी छेड़-छाड़ करने की इच्छा हो ही आती है।

गृहिणी ने मुँह फुलाकर कहा—मुझसे तुम अच्छी बातें कहते ही कब हो ? सदा से ही तो जी जला जलाकर अधमरी करते आ रहे हो। कभी तुमने मुझे अच्छी निगाह से भी देखा है ?

रमाकान्त बाबू ने जोर से हँसकर कहा—इतने दिनों के बाद तुमने यथार्थ ही सच्ची बात कही है। तुम्हारा चेहरा यदि जरा-सा और...

क्रोध से स्वर को कम्पित करती हुई गृहिणी ने कहा—अच्छा, अच्छा, मेरा चेहरा खराब है, तो मेरे ही लिए है। तुम्हें क्या करना है? तुम्हारा चेहरा तो अच्छा है न? बस, यही काफ़ी है।

रमाकान्त बाबू को दूसरों को चिढ़ाने में कुछ मज़ा-सा आता था, विशेषतः महामाया को, क्योंकि वह ज़रा-सी ही बात में आगबबूला हो जाती थीं। वे प्रायः इस बात का अनुभव नहीं कर पाती थीं कि ये केवल मुझे छेड़ने के लिए इस तरह की बात कह रहे हैं। समय-समय पर स्वामी-स्त्री में इस प्रकार की बातों के पीछे प्रायः विवाद हो जाया करता था।

रमाकान्त बाबू ने जब समझ लिया कि महामाया अब बहुत ही क्रुद्ध हो गई हैं, तब उन्होंने बात को बढ़ने देना उचित नहीं समझा, वे चुप हो गये। परन्तु शीघ्र ही विवाद उठ खड़े होने की जो सम्भावना थी उसका अन्त करने के लिए उतना ही काफ़ी नहीं था। पत्नी का चित्त प्रसन्न करने के विचार से उन्होंने कहा—बहू को लिख क्यों नहीं देती हो कि वह थोड़े दिनों के लिए यहाँ चली आवे?

गृहिणी ने कहा—इसके लिए अब आपके कहने की आवश्यकता नहीं है। यह बात मैं बहुत पहले ही लिख चुकी हूँ। बहू का उत्तर भी आया है। उन्होंने लिखा है—सन्तोष पहले जिस लड़की के साथ विवाह करना चाहता था, वह आई हुई है। आज-कल ज़मींदारी आदि का सारा काम-काज वही देख रही है। वहाँ की व्यवस्था ठीक हो जाने पर कुछ दिनों के लिए वे यहाँ आवेंगी। इस समय छोड़ कर चली आने पर वहाँ सब चौपट हो जायगा।

पत्नी के मुँह की ओर ताकते हुए रमाकान्त बाबू ने कहा—क्या वह छोकड़ी वहाँ पहुँच गई है?

गृहिणी ने कहा—हाँ, सुनती हूँ कि लड़की बड़ी अच्छी है। बहू को बहुत चाहती है। भाभी ने तो अपने पत्र में उसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है।

रमाकान्त बाबू ने कहा—हो सकता है भाई, परन्तु इन सब काले

साँपों का विश्वास न करना चाहिए। पता नहीं, किस दिन क्या बात उठ खड़ी हो?

"नहीं, नहीं, ऐसी कोई आशङ्का नहीं है। सुनती हूँ, उस लड़की ने सन्तोष को बहुत समझाया था, परन्तु उसने एक बात पर भी कान नहीं दिया। तब भला उस बेचारी का क्या दोष है?"

रमाकान्त बाबू ने असन्तोष के साथ कहा—यह सब हमें ठीक नहीं मालूम पड़ता भाई! सुई के रूप म घुसकर बाद को कहीं फाल होकर न निकले। एक तो यों ही वह इतनी विपत्ति में है, कहीं कोई नई आपदा न उठ खड़ी हो।

क्रमशः रमाकान्त बाबू भोजन से निवृत्त हुए। थोड़ी दूर पर नौकर जल लिये हुए खड़ा था। हाथ-मुंह धोकर वे कपड़े पहनने लगे।

गृहिणी ने चमेली के लड़के मन्टू से कहा—जा ना, अपने नाना को पान दे आ।

मन्टू जब नाना के पास चला गया तब उन्होंने सोचा कि आज सन्तोष को एक चिटठी लिख दूं। वह थोड़े दिनों के लिए यहाँ चला आवे तो अच्छा है। आहा, कौन उसे स्नेह की दृष्टि से देखता होगा? परदेश में अकेला मेरा बच्चा पड़ा है।

अज्ञात अवस्था में ही गृहिणी के वक्षःस्थल को कम्पित करके एक दीर्घ निःश्वास निकल गया। इतने में मन्टू आकर उनके गले से लिपट गया। वह कहने लगा—नानी, तुम्हें नाना बुला रहे हैं।

बच्चे का मुंह चूमकर गृहिणी ने कहा—अच्छा, चलो।

———

बीसवाँ परिच्छेद

आशा के पथ पर

"आप यह कैसी बात कह रही हैं?"

"मैं जो कह रही हूँ, वही ठीक है। यदि ऐसा ही था तो आपने विवाह क्यों किया? अब भला वह क्या करेगी? कहाँ जायगी?"

"क्यों? रुपया-पैसा है, घर-द्वार है। अभाव तो किसी वस्तु का है नहीं। संसार में मनुष्य दो ही वस्तुओं के लिए चिन्ता किया करता है—रुपये-पैसे के लिए और स्थान के लिए। इन दोनों में से उसे एक का भी तो अभाव नहीं है।"

सुषमा ने विस्मित होकर कहा—छिः छिः! सन्तोष भाई, नारी क्या रुपये-पैसे के ही लिए भूखी रहती है? उसके लिए क्या और कोई भी कामना की वस्तु नहीं है? छिः छिः, आप हम लोगों को इतनी नीच न समझिए। अन्न-वस्त्र और रुपया-पैसा मिल जाने से ही क्या स्त्रियों की समस्त आवश्यकतायें निवृत्त हो जाती हैं?

सन्तोष ने कहा—प्रायः।

सुषमा ने कम्पित कण्ठ से कहा—यह भूल है आपकी। आपने गलत समझ रक्खा है। ऐसी बात आप मन में भी न आने दीजिएगा। स्त्री, विशेषतः हिन्दू स्त्री के लिए इसके समान और किसी भी बात से कष्ट नहीं हो सकता।

बहुत देर तक चुप रहने के बाद सन्तोष ने फिर कहा—मैंने इसके साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं किया है।

सुषमा ने उत्तेजित कण्ठ से कहा—इससे बढ़कर आप क्या अन्याय करेंगे? क्या यह बाजार का खिलौना है कि जी में आया तो पसन्द किया,

ख़रीद ले आये, नापसन्द हुआ तो वापस कर दिया। प्रतिज्ञा ही यदि भङ्ग कर दी तो फिर यह दशा क्यों कर रहे हैं?

सन्तोष ने हताशभाव से कहा—मैं कैसी दशा कर रहा हूँ?

सुषमा ने सयत कण्ठ से कहा—क्या कर रहे हैं, यह स्वयं विचार कर देखिए। आपकी आँख के सामने एक स्त्री की हत्या होगी और आप बैठे देखेंगे? उसके लिए कोई व्यवस्था न करेंगे?

सन्तोष ने मुंह नीचा करके कहा—क्या करूँ, मेरा अदृष्ट है। मैं तो ऐसा नहीं चाहता था। परन्तु मेरे भाग्य में जब यही लिखा है तब भला मेरी क्या शक्ति है कि मैं उसे मेट सकूँ?

सुषमा ने दृढ़ कण्ठ से कहा—परन्तु क्या आप एक बार प्रयत्न भी न करेंगे?

विवशता का भाव व्यक्त करते हुए सन्तोष ने कहा—परन्तु मैंने कोई प्रयत्न ही नहीं किया, यह आपने कैसे समझ लिया?

"आपका व्यवहार देखने से तो यही प्रतीत होता है कि आपने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। क्या आप कह सकते हैं कि संसार में प्रयत्न से भी असाध्य कोई वस्तु है?

सन्तोष ने भग्न कण्ठ से कहा—मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है।

सुषमा ने उत्तेजना-पूर्ण स्वर से कहा—आप तो मुझे आश्चर्य में डाले दे रहे हैं। आज तक संसार में ऐसी कोई भी घटना नहीं हुई जो प्रयत्न से असाध्य प्रतीत हो सके।

मृदु कण्ठ से सन्तोष ने कहा—दूसरों के लिए सहजसाध्य हो सकती है, किन्तु मेरे लिए तो दुःसाध्य ही है।

सुषमा का गला रुँध आया। वह कहने लगी—सन्तोष भाई, आपने ऐसा करके मुझमें श्रद्धा का जो कुछ भाव था उसे नष्ट कर दिया। मैंने स्वप्न में भी इस बात की आशा नहीं की थी। लोग आपको चाहे जो कहें, और उस दिन मैं भी आपको चाहे जो कुछ कह गई होऊँ, परन्तु वास्तव में एक दिन के लिए भी मैंने आपका अविश्वास नहीं किया। मैं सदा से

यही मानती आई हूँ कि आप एक शिक्षित हृदयवान् पुरुष है। आपने आज मेरे इस विश्वास को नष्ट कर दिया। आप इतने निकम्मे और कायर हैं, यह मैं नहीं जानती थी। मैं तो बहुत आशा करके आपके पास वासन्ती को लेकर आई थी। आज आपने यह क्या किया? उसके सामने तो अब मुंह दिखाने में भी मुझे लज्जा आती है। आपके कारण एक परिवार का अधःपतन हो और आप उस ओर दृष्टिपात तक न करेंगे? इसके लिए उत्तरदायी कौन है? इसके लिए आपको बड़ा कष्ट सहन करना पड़ेगा। दण्ड के रूप में मैं आपको कौन-सी ऐसी बात कह रही हूँ, इससे हजार गुना दण्ड एक विचारक के तराज़ू के पलड़े पर तौला जा रहा है। इस अपराध का प्रायश्चित्त एक न एक दिन आपको करना ही पड़ेगा। सन्तोष भाई, सुख किसमें है? त्याग में या भोग में? स्त्री के प्रति स्वामी का जो कर्त्तव्य है उसे आप भूले क्यों जा रहे हैं? वासन्ती आपके लिए अयोग्य नहीं है। आप उससे प्रेम करने का प्रयत्न कीजिए। जरा आँख उठाकर देखिए, आपके अत्याचार के कारण आज उसका यह हाल हो गया है। आज यदि वह आपका ज़रा-सा आदर, जरा-सी सहानुभूति पाती तो शायद आप उसकी एक दूसरी ही मूर्त्ति देखते। किन्तु क्या आपको इसकी यह वेदना से क्लिष्ट और आभरणहीन मूर्ति देखकर दया नहीं आती? ओह, आप—

सन्तोष ने शुष्क कण्ठ से कहा—मोह-ममता मुझे बहुत दिनों से त्याग चुकी है। मैं पत्थर हो गया हूँ। शायद ऐसा न हो सकता, यदि—

सुषमा का पारा गरम हो उठा। उसने उग्र स्वर से कहा—कहिए, कहिए, यदि क्या? यदि आपके पिता ने आपके साथ इस तरह का अत्याचार न किया होता; यही न? किन्तु इसके लिए वासन्ती जिम्मेदार न होगी। इसमें उसका क्या अपराध है?

सन्तोष ने कातर कण्ठ से कहा—नहीं, नहीं। मैं उसे अपराधिनी नहीं कहना चाहता। परन्तु तो भी—तो भी, उ, उ, उससे मैं प्रेम नहीं कर सकता। इसके लिए आप मुझे क्षमा कीजिए।

क्रोध-कम्पित-कण्ठ से सुषमा ने कहा—नहीं, नहीं, तुम्हारे लिए क्षमा नहीं है। वासन्ती शायद तुम्हें किसी दिन क्षमा भी कर देगी, किन्तु मैं तुम्हें कभी न क्षमा करूँगी। मैं तो तुम्हें सदा घृणा की ही दृष्टि से देखूँगी। मैं तुम्हें विश्वास-घातक, कापुरुष और निकम्मा छोड़कर और कुछ न कहूँगी। एक प्रतिहिंसा-परायण पशु के हृदय में जितनी स्नेह-ममता होती है, आपके हृदय में उतनी भी नहीं है। वे सब अपनी क्षुद्र शक्ति से भार्या की जितनी रक्षा करते हैं, आप प्रबल शक्तिशाली मनुष्य होकर भी उस कार्य में असमर्थ हैं। तो आपने पुरुष होकर जन्म क्यों ग्रहण किया है? आज देखती हूँ कि आप पुरुष नाम के अयोग्य हैं।

एक लम्बी साँस लेकर सन्तोष ने कहा—रहने दो, और कुछ मत कहो। मेरे पास कोई भी उपाय नहीं है। मैं बहुत ही हतभाग्य हूँ।

सुषमा ने दृढ़ कण्ठ से कहा—क्यों, इसके कारण हृदय को क्लेश मालूम पड़ता है, यही बात है न? इतना भी सहन करने की शक्ति जिनमें नहीं है वे भले आदमियों के बीच में रहते क्यों हैं? संसार में इस तरह के जितने भी पाखंडी हैं वे यदि जाकर चिड़ियाखाने के एक किनारे बैठजायँ तो समाज का बहुत कुछ कूड़ा-करकट साफ़ हो जाय। समझ रखिए, आज आपने जो कुछ स्वेच्छा से परित्याग किया है, सम्भव है कि किसी दिन वही आपको अत्यन्त उपयोगी प्रतीत हो। भगवान् की यदि असीम अनुकम्पा होगी तो आपकी आशा पूर्ण होकर रहेगी। किन्तु यदि भगवान् की ऐसी इच्छा न होगी तो आपके क्षोभ की भी सीमा न रहेगी। वैसी दशा में इस अनन्त भूमण्डल में आपको जीवन भर कोई साथी न मिल सकेगा, सदा इसी तरह अकेले रहकर जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। सती के नेत्रों का जल कभी व्यर्थ न होगा। समझ रखिए, सहने की भी एक सीमा है। आपका अत्याचार क्रमशः सीमा को पार करता जा रहा है। सम्भव है कि हम सह भी लें, किन्तु आज भी एक ऐसे हैं जो इस तरह का अन्याय कभी न सहन कर सकेंगे। अत्याचार से पीड़ित उस अबला के हृदय की ज्वाला किसी न किसी दिन उनके अंतःकरण का

स्पर्श करके ही रहेगी। वासन्ती की व्याकुल प्रार्थना कभी निष्फल न होगी।

सन्तोष जीवन के सारे सुखों से निराश हो गया था। जिस दिन वासन्ती के साथ उसका विवाह हुआ था उसके बाद उसने एक क्षण के लिए भी शान्ति का अनुभव नहीं किया। निरन्तर दुश्चिन्ताओं में पड़े रहने के कारण उसका शरीर और मन मानो एक प्रकार से क्रियाहीन होता जा रहा था। असह्य वेदना की भयङ्कर चपेटें खाते-खाते उसका कान भी मानो क्रमशः अनुभव-शक्ति से हीन होता जा रहा था। आँखों के सामने अन्धकार छाया जा रहा था। उसकी चित्तवृत्तियाँ मानो पत्थर में परिणत हो रही थीं। उसका शरीर काँप रहा था, वह और न खड़ा रह सका, धूल और गर्द से भरे हुए फ़र्श पर बैठ गया।

बड़ी देर तक चुप रहने के बाद सुषमा ने कहा—अब भी दया कीजिए, अब भी सोच-विचार कर देखिए। दूसरी बार मैं आपके पास न आऊँगी। सम्भव है कि यही अन्तिम—आप क्यों ऐसा कर रहे हैं? ऐसा करने से आपको क्या लाभ होगा? इससे आपको तो कष्ट हो ही रहा है, साथ ही एक दूसरे को भी कष्ट दे रहे हैं। ऐसा क्यों कर रहे हैं?

सन्तोष ने कम्पित कण्ठ से कहा—क्यों कर रहा हूँ, यह मत पूछिए। मुझसे यह नहीं बतलाया जा सकेगा। आप जानती नहीं हैं कि मुझे कितना कष्ट है। यह कहकर उसने मुंह फेर लिया।

सुषमा कुछ क्षण तक निस्तब्धभाव से खड़ी रही, बाद को वासन्ती के हिम से भी अधिक शीतल दोनों हाथ पकड़कर वह सन्तोष की ओर बढ़ी और कहने लगी—सन्तोष भाई, मैं बहुत बड़ा मुंह करके ताई जी के पास से वासन्ती को यहाँ ले आई हूँ। आप मेरे इस मुख की रक्षा कीजिए, मुझे और कष्ट न दीजिएगा, मुझसे अब रहा नहीं जाता। अब भी कहती हूँ, कि भूल जाइए, जो होना था, हो गया। अब वह लौटने का नहीं है। पिता के अपराध के कारण एक दूसरे को अपराधी—आगे वह न कह सकी, वहीं पृथिवी पर बैठ गई।

अब सन्तोष सुषमा के और समीप खिसक आया। रुँधे हुए कण्ठ से उसने कहा—मुझे भूलने को न कहिए। मैंने जो कुछ किया है उसका प्रायश्चित्त करने दीजिए। मैं आपकी आज्ञा का पालन न कर सकूँगा। संसार मुझे चाहे कुछ भी कहे, मैं कितना कष्ट पा रहा हूँ, यह केवल वे ही जानते हैं। मेरी प्रार्थना है कि अब आप मुझसे कुछ न कहिए। मुझसे—

सुषमा ने उत्तेजित कण्ठ से कहा—तो यही चाहते हैं?

सुषमा की ओर देखते हुए संशयपूर्ण कण्ठ से सन्तोष ने कहा—चाहता क्या हूँ?

रुँधे हुए कण्ठ से सुषमा ने कहा—वासन्ती का परित्याग करना चाहते हैं? यह नहीं होगा। नारी यह नहीं सहन कर सकती। स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं, केवल स्वामी की उपेक्षा उनसे नहीं सहन की जा सकती। यह न सोचिएगा कि हम फिर आपके पास आवेंगी। आपके साथ हम लोगों की शायद यही सबसे आखिरी मुलाक़ात हो। आपके सुख के मार्ग में बाधा डालने के लिए हम फिर न आवेंगी।

इतना कहकर सुषमा उठकर खड़ी हो गई, उसने उत्तर के लिए ज़रा भी प्रतीक्षा नहीं की। उसी समय एक निमेष भर के लिए सन्तोष की दृष्टि वासन्ती पर निबद्ध हो गई। उसने देखा तो वासन्ती उसी की ओर विस्फारित नेत्रों से ताक रही थी। उसके मुख का रंग बिलकुल बदल गया था, मानो वह जीवित व्यक्ति का मुख ही नहीं है। सूखे हुए पीले मुखमंडल पर यन्त्रणा का एक चिह्न उदित हो आया। सन्तोष ने यह भी देखा कि वायु के झकोरे से सञ्चालित कदली के वृक्ष के समान वासन्ती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग कम्पित हो रहे हैं। किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वासन्ती उठकर खड़ी ही होने जा रही थी, इतने में उसका संज्ञा-हीन शरीर सन्तोष के चरणों के समीप लोट पड़ा।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

सुप्रबन्ध

कलकत्ते से लौटकर आने के बाद वासन्ती का दिल और भी टूट गया। उसका शरीर बराबर गिरने लगा। सुषमा उसकी अवस्था को हृदयङ्गम न कर सकी हो, यह बात नहीं थी। वह सदा ही वासन्ती को भुला रखने का प्रयत्न किया करती थी। घर आते ही उसने वासन्ती के रहन-सहन तथा कार्य-क्रम में बहुत-कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया था। थोड़ा-बहुत परिवर्तन उसने कर भी दिया था। किन्तु वासन्ती से जब कभी विशेष आग्रह किया जाता तब वह कहती—किसके लिए यह सब करती हूँ, दीदी? यह बात सुनकर स्वयं सुषमा के ही लिए नेत्रों का जल संवरण करना असम्भव हो जाता।

वासन्ती के यहाँ लौटकर आने के बाद ताई जी ने सम्पत्ति आदि के प्रबन्ध के सम्बन्ध में रमाकान्त बाबू को एक पत्र लिख दिया था। उसमें उन्होंने लिखा था कि आप यदि एक बार यहाँ आ न जायँगे तो सारी सम्पत्ति नष्ट हो जायगी। इसलिए यहाँ आकर इसका कोई न कोई प्रबन्ध कर जाइए। इस पत्र का उत्तर भी आ गया। उन्होंने लिखा था कि मैं शीघ्र ही आ रहा हूँ और वहाँ का सारा काम-काज सँभाल कर तुम लोगों को कुछ दिनों के लिए यहाँ ले आऊँगा। रमाकान्त बाबू के इस उत्तर के कारण ताई जी ने ज़रा-सी शान्ति की साँस ली। वासन्ती बिलकुल ही दृढ़-प्रतिज्ञ हो चुकी थी कि मैं न कुछ देखूँगी और न कोई काम करूँगी। इससे रमाकान्त बाबू को सूचित करने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह गया था। इसी लिए ताई जी और सुषमा ने परामर्श करके उन्हें सारी बातें स्पष्ट रूप से लिखी थीं और उसका अनुकूल उत्तर भी आ गया।

राधावल्लभ के मन्दिर में शीतलता का प्रबन्ध करके वासन्ती छत पर एक शीतलपाटी बिछाये लेटी हुई थी। सुषमा किसी कार्य से बाहर गई थी। वासन्ती अकेली लेटे लेटे सोच रही थी—यह जो चन्द्रमा की किरणों से चारों दिशायें प्रकाशित हो उठी हैं, इनके पीछे कितना विराट् अन्धकार छिपा हुआ है, वह माया से कैसे बँधा हुआ है, सुख में मग्न मानव क्या कभी इस पर विचार किया करता है? चन्द्रमा की किरणें तो केवल ऊपर ही आलोक वितरण कर सकती हैं, भीतर का अन्धकार दूर करने की शक्ति तो उनमें है नहीं। मेरे हृदय का अभ्यन्तर किस प्रकार के प्रगाढ़ अन्धकार से आच्छादित है, यह क्या कोई समझ सकता है? नारी के जीवन की अपेक्षा क्या और भी किसी का इस प्रकार का अनिर्दिष्ट जीवन है? क्या कोई जीवनपर्यन्त इस प्रकार व्यर्थता के साथ युद्ध कर सकता है? मैं भी तो मनुष्य हूँ। पाषाण तो हूँ नहीं। मनुष्य और कितना सहन कर सकता है? मुझसे तो अब नहीं सहा जाता। हे मेरी मा, तू मुझे अपने पास क्यों नहीं बुला लेती? मुझे बड़ा कष्ट है!

क्षण भर के बाद सुषमा जब लौट कर आई तब उसने देखा कि वासन्ती तकिया पर मस्तक रक्खे रो रही है। धीरे धीरे उसके समीप जाकर सुषमा ने कहा—वासन्ती, तू फिर रो रही है? तू भाई, मेरे कहने में नहीं है। ऐसा कहकर उसने वासन्ती का मस्तक अपनी गोद में रख लिया और कहने लगी—क्या करूँ बहन, कोई उपाय ही नहीं रह गया है? परन्तु ऐसा करके तू अपना शरीर क्यों मिट्टी कर रही है?

वासन्ती ने भर्राई हुई आवाज से कहा—दीदी रानी, मैं क्या करूँ? उस समय सुषमा का हृदय वायु के झकोरे से आन्दोलित वृक्ष की शाखा के समान कम्पित हो रहा था, वह हृदय में अत्यधिक यन्त्रणा का अनुभव कर रही थी।

सुषमा को कुछ समय तक चुपचाप बैठी देखकर वासन्ती ने अपने आपको किसी प्रकार सँभाला। वह कहने लगी—दीदी रानी, क्या तुम अप्रसन्न हो गई?

सुषमा ने वासन्ती के दोनों ही शिथिल और आभूषणहीन हाथों को अपने हाथ में लेकर स्निग्ध कण्ठ से कहा—भला मैं कभी तुमसे अप्रसन्न हो सकती हूँ ?

सुषमा की यह बात सुनकर वासन्ती ने जरा-सी शान्ति की साँस ली। वह कहने लगी—दीदी, मुझे बड़ा भय लग रहा था। सोचती थी कि शायद आप रुष्ट हो गईं। न जाने क्यों दीदी, आप लोग इतना रोकती हैं, फिर भी मुझसे आँसू नहीं रोके जाते। मैं इतना प्रयत्न करती हूँ, फिर भी—

सुषमा ने वासन्ती को रोककर कहा—यह क्या फिर रोने लगी ? छिः, रोना न चाहिए। तू यदि इसी तरह रोज रोज रोया करेगी तो मैं चली जाऊँगी। तब कैसे तू रहेगी ?

वासन्ती ने प्रार्थना-पूर्ण स्वर में कहा—नहीं, अब मैं न रोऊँगी। आप मुझे छोड़कर न जाइएगा।

वासन्ती की यह बात कि मुझे छोड़कर न जाइएगा, सुषमा के हृदय में बाण के समान विद्ध हो गई। उसने कम्पित कण्ठ से कहा—वासन्ती, तू जब मुझे इतना चाहती है तब क्या मैं तुझसे रुष्ट हो सकती हूँ ? यह तो तेरा दोष है। तू स्वयं अपने हृदय में न जाने क्यों इतने कष्ट एकत्र करती रहती है ?

वासन्ती ने कहा—मैं ही मुँहजली सारे अनिष्टों की जड़ हूँ। बाबू जी यदि उस दिन मुझे न देखते तो सम्भव है कि ऐसा न होता। अब तो सोचती हूँ कि बाबू जी ने मुझे न पसन्द किया होता तो तभी अच्छा था।

सुषमा ने वासन्ती के रूखे बालों को ब्योरते-ब्योरते गम्भीर एवं स्नेहपूर्ण कण्ठ से कहा—ऐसा भी कहीं सम्भव था रे पगली ? यह तो विधाता का विधान है। भला यह भी कहीं किसी की इच्छा के अधीन है ?

वासन्ती ने कहा—यह सब मैं समझती हूँ, किन्तु मेरे मन में कैसा भाव आता है, क्या यह आप जानती हैं ? मेरे मन में यह बात आती है कि मेरे ही कारण आज इस परिवार की यह दशा हो गई है।

सुषमा ने कहा---इसी लिए तुम अपने हृदय में अपने आप दुःख की सृष्टि करके कष्ट पा रही हो ?

वासन्ती ने कम्पित कण्ठ से कहा---किस तरह सुखी होऊँ दीदी रानी ? मेरा तो जन्म ही अशुभ लग्न में हुआ था। जब से इस पृथिवी पर आई हूँ, माता-पिता का स्नेह तो कभी प्राप्त कर नहीं सकी, सदा से सबको भूँजती ही खाती आ रही हूँ। स्वयं भी सुखी न हुई, किसी दूसरे को भी सुखी न कर सकी। बाद को विवाहिता होकर जिनके घर में आई उन्हें भी दुःखी ही किया। मैं इस प्रकार की अभागिनी हूँ कि मेरे पैर रखते ही इस घर की सारी सुख-सम्पदा न जाने कहाँ चली गई। मैं जो थी वही रह गई, परिवर्तन तो कुछ हुआ नहीं। इसके सिवा जिनका यह ऐश्वर्य है वे मेरे आते ही घर छोड़ कर चले गये। मेरे भविष्य की चिन्ता से बाबू जी दिन दिन सूखने लगे, अन्त में वे भी मुझे छोड़कर चले गये। ऐसी परिस्थिति में, ज़रा सोचकर देखिए, मेरे ही कारण तो आज....आवेग के मारे उसका कण्ठ रुँध गया।

सुषमा ने कहा---यही सब बातें सोच सोचकर तू दुःखी हुआ करती है। परन्तु इसमें तेरा क्या अपराध है ? यह सब भाग्य का दोष है। यह कहकर उसने गम्भीर स्नेह से वासन्ती को ज़ोर से लिपटा लिया।

वासन्ती ने देखा, सुषमा मानो किसी प्रकार की चिन्ता में मग्न है। इससे उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के विचार से उसने कहा---दीदी रानी, एक गीत तो गाओ।

सुषमा ने कहा---कैसा गीत गाऊँ ?

वासन्ती ने स्निग्ध स्वर से कहा---कैसा भी गाओ।

सुषमा ने गाना आरम्भ किया। वासन्ती एक दृष्टि से उसकी ओर ताकती हुई गीत सुन रही थी। गाते गाते सुषमा के गालों पर आँसुओं की कुछ बूँदें चू पड़ीं। यह देखकर वासन्ती ने उत्कण्ठित भाव से पूछा---रोती क्यों हो दीदी ?

सुषमा ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—यह गीत मेरी मौसी जी गाया करती थीं। उनकी मृत्यु हो गई है। इसी लिए आज यह गीत गाते गाते मन न जाने कैसा हो गया।

वासन्ती ने कहा—कैसा सुन्दर गीत है दीदी! यह हृदय में जाकर न जाने कैसे लगता है?

यथासमय रमाकान्त बाबू आकर पहुंच गये। दस-बारह दिन रह कर उन्होंने सम्पत्ति का सारा प्रबन्ध उत्तम ढङ्ग से कर दिया। सारे काम-काज से निवृत्त होने पर उन्होंने ताई जी और वासन्ती को साथ में लेकर घर लौटने की इच्छा प्रकट की।

इन कुछ ही दिनों के निष्कपट और विनम्रतापूर्ण व्यवहार से रमाकान्त बाबू को सुषमा पर बड़ी श्रद्धा होगई थी। इससे उन्होंने सुषमा से भी साथ में चलने को कहा, परन्तु सुषमा ने कहा—विनय बाबू (रमाकान्त बाबू के पुत्र) के विवाह के समय आऊँगी।

वासन्ती की अनिच्छा देखकर रमाकान्त बाबू ने अधिक अनुरोध नहीं किया।

बाईसवाँ परिच्छेद

निराशा

वासन्ती को इलाहाबाद आये चार-पाँच मास हो गये। रमाकान्त बाबू के पुत्र और कन्या का विवाह भी हो गया। वधू की अवस्था काफ़ी थी, इसलिए दो महीने के बाद ही वे फिर उसे पित्रालय से बुला लाये। सुषमा विवाह के समय आई थी। एक मास रहकर वह फिर कलकत्ते चली गई। जाते समय वह वासन्ती से कह गई थी कि तुम जब सिराजगंज जाना तब मुझे सूचित करना। वहाँ आकर मैं तुम्हारे साथ फिर रहूँगी। छुट्टी न मिल सकने के कारण सन्तोष विवाह के समय नहीं आया था। उसने लिखा था कि यदि हो सका तो गर्मी की छुट्टियों में आऊँगा।

वैशाख का महीना था। इलाहाबाद में बड़े ज़ोरों की गर्मी पड़ रही थी। सवेरे आठ बजे से लेकर साँझ को सात बजे तक बराबर लू चलती रहती। शरीर में ज़रा-सा छू जाते ही वह मनुष्य को व्याकुल कर देती। रमाकान्त बाबू ने अपने दरवाज़ों और खिड़कियों में ख़स की टट्टियाँ लगवा रक्खी थीं। उन टट्टियों पर पानी छिड़कने का भी प्रबन्ध था। तो भी दोपहरी में घर इतना गर्म हो उठता कि उसमें रहना असम्भव हो जाता। उस समय रात को कोई भी भीतर नहीं सोता था। सभी लोग अपनी अपनी चारपाइयाँ निकाल कर बाहर सोया करते थे। विनयकुमार भी दो-एक दिन सोने के लिए बाहर आया था। परन्तु वासन्ती ने उससे बहुत अनुनय-विनय करके और बाद को रोष प्रकट करके उसे भीतर सोने के लिए भेजा था। एक दिन पान लगाते-लगाते वासन्ती ने कहा—अच्छा विनय बाबू, क्या आपको अक़्ल नहीं है?

विस्मितभाव से विनयकुमार ने कहा—कौन-सा कमअक़्ली का काम देखा भाभी जी?

वासन्ती ने कहा—यही कौन-सा अक्लमन्दी का काम है जो सोने के लिए बाहर चले आते थे। क्या आपके लिए ऐसा करना उचित था?

विनयकुमार ने मुस्कराकर कहा—आप सभी लोग जब बाहर सोती हैं तब मैं ही क्यों नहीं सो सकता? पहले भी तो मैं बाहर ही सोता था।

वासन्ती ने कहा—पहले की और बात थी। अब तो आप अकेले हैं नहीं। एक साथी ले आये हैं न। वह जो अकेला पड़ा रहेगा।

विनय ने कहा—विवाह करने से क्या क़ैदी हो गया हूँ, जो हवालात में बन्द रहूँ?

वासन्ती ने एक व्यङ्ग्यमय हँसी के साथ कहा—क्यों नहीं? यह भी एक प्रकार की क़ैद ही है। परन्तु उस क़ैद और इस क़ैद में बड़ा अन्तर है। उस क़ैद में कोई आसानी से पड़ना नहीं चाहता। संयोगवश यदि कोई पड़ भी जाता है तो अवसर मिलते ही वह उसमें से निकल भागता है। परन्तु जो कोई इस क़ैद में पड़ जाता है उसका निकल भागना तो दूर रहा, उलटा—

अकस्मात् विनय के मुँह से निकल गया—क्या सभी के सम्बन्ध में यही बात है?

वासन्ती चौंक पड़ी। उसने कहा—उनके सम्बन्ध में कह रहे हो? उनकी बात जाने दो। वे किस तरह की धुन के आदमी हैं, यह क्या आप नहीं जानते? और यदि मेरी पूछो तो मैं सब कुछ कर सकती हूँ।

जरा देर तक चुप रहने के बाद विनय ने कहा—भाभी जी, आज आपसे यह बात कहकर मैंने बड़ा अनुचित काम किया है। इसके लिए आप मुझे क्षमा कीजिए।

वासन्ती ने कहा—नहीं विनय बाबू, यही ठीक बात है। मैं सीधी-सादी सच बात अधिक पसन्द करती हूँ। ऐसी बात यदि अप्रिय भी हो तो उससे मुझे कष्ट नहीं मालूम पड़ता। आदमी का सामना और पीछा दो होते हैं। मैं सामने कही जानेवाली बात को अधिक पसन्द करती हूँ।

वासन्ती ने मन ही मन कहा—मुझे स्नेह दान करनेवाला कौन है? शिशु-काल में ही माता-पिता ने मेरा परित्याग कर दिया। तभी से मेरा जीवन मरुभूमि हो गया। इस जीवन में मेरी तृष्णा निवृत्त होने का क्या कोई उपाय है? सुशीतल जल वर्तमान रहने पर भी तृप्त होने की कोई आशा नहीं है। मुझे जीवन-पर्यन्त इसी प्रकार पिपासित रहकर स्थिर निर्दिष्ट मार्ग से चलना पड़ेगा। इसके सिवा और कौन-सा उपाय है?

वासन्ती ने पान के कुछ बीड़े लगाकर देवर के हाथ पर रक्खे। उन्हें लेकर वह बाहर चला गया।

वासन्ती को सुजाता क्या मिल गई, मानो एक बहुत बड़ा सहारा हो गया। दिन भर में वह पचीस बार उसे पचीस तरह से सजाया करती। फिर भी उसे तृप्ति न होती। किस तरह सजाने पर वह देवर को अधिक सुन्दरी जँचेगी, यह बात वह स्थिर न कर पाती। चमेली कभी-कभी इस सम्बन्ध में कुछ व्यङ्ग्य किया करती। उसके उत्तर में वासन्ती कहती, क्या करूँ, बुआ जी कोई काम करने देतीं नहीं। एक नया काम मिल गया है, उसी में लगी रहती हूँ।

बुआ जी सभी कुछ देखा करती थीं। परन्तु वे तो यह चाहती ही थीं कि वासन्ती का मन किसी तरफ़ लगा रहे। वे सोचतीं कि सुजाता को सजाकर भी यदि वह प्रसन्न हो सकती है तो इसमें बाधा डालने की कौन-सी बात है? बीच-बीच में एक आह उनके हृदय को भेद कर निकल पड़ती थी। उनके जी में आता कि हाय, जिसके हृदय में इतनी आकांक्षा है उसे किसी प्रकार का भी सुख नहीं है। इस हतभागिनी की सुन्दरता बराबर निखरती ही आ रही है। हाय, उस जन्म में इसने न जाने कौन-से खोटे कर्म किये थे कि छुटपन से ही इस प्रकार अपने भाग्य के नाम पर रोती आ रही है। अलङ्कारशून्य और वेदना से मलिन वासन्ती को देख-देखकर अपरिसीम यन्त्रणा के मारे उनका हृदय मानो विदीर्ण होता जा रहा

था। परन्तु यह सोचकर कि कहीं वासन्ती को मेरे हृदय का भाव मालूम न हो जाय, वे जहाँ तक हो सकता, सावधान रहा करती थीं।

सुजाता बुआ जी की पुत्र-वधू का नाम था। वासन्ती समस्त दिन उसी के साथ-साथ रहा करती, और प्रायः पूछती रहती कि विनय बाबू तुमसे क्या-क्या बातें करते हैं, तुम्हें कितना प्यार करते हैं। इसी तरह की बातें वह खोद-खोदकर पूछती रहती। एक बात को सौ बार पूछ लेने पर भी उसे सन्तोष न होता। वह सोचती कि शायद अभी बहुत कुछ पूछने को रह ही गया है। सुजाता तो कभी-कभी ऊब जाती और कह बैठती—दीदी, रहने दो, तुम तो.........

वासन्ती उसे किस तरह समझाती कि केवल इतना ही तो मेरे जीवन में असम्पूर्ण रह गया है। मानो सुजाता को यह मालूम नहीं था कि वासन्ती को स्वामी का आदर बहुत ही अद्भुत, आश्चर्यजनक वस्तु मालूम पड़ता है। उसके अन्तःकरण में लबालब भरा हुआ प्रेम अन्तरात्मा का व्याकुलतामय क्रन्दन उनके चरणों के समीप कब तक पहुँच पावेगा, यह उसे नहीं मालूम था।

अपने जीवन की व्यर्थता का जो अंश था वह वासन्ती को क्रमशः अधिक से अधिक दुःखी करता आ रहा था। कभी उसकी यह दुराशा पूर्ण हो सकेगी, इसमें उसे सन्देह था। यही कारण था कि वह सुजाता की बातें सुन सुनकर और उसे सजाकर अपने अभाव की व्यथा का निवारण किया करती थी।

एक दिन वासन्ती ने बाजार से बेला के फूल की कई मालायें मँगवाईं। उन सबको उसने छिपाकर रख लिया। सब लोग भोजन आदि से निवृत्त हो गये। फूफा जी सोने के लिए छत पर चले गये। तब वासन्ती सुजाता को पकड़ ले आई और उसे खूब सजाया। बाद को एक रंगीन साड़ी पहना कर उसे गम्भीर आवेग से लिपटा लिया और कहने लगी—आज तू मेरे देवर को खूब पसन्द आयेगी। देखना वे जो कुछ कहें, मुझसे बतलाना। आज तुझे—

वासन्ती को ज़रा-सा ठेलकर सुजाता ने कहा--जाओ दीदी, तुम्हें तो हर बात में ठिठोली ही सूझती है।

"ठिठोली नहीं है भाई ! सच कहती हूँ। तब तू भी कहेगी कि दीदी ने कहा था।"

लज्जा से रुँधे हुए स्वर से उसने कहा--नहीं दीदी, मा अभी आ पड़ेंगी। मुझे बड़ी लज्जा मालूम पड़ रही है। यह सब खोल दो।

सुजाता के गुलाब के समान कोमल और सुन्दर गाल पर हलकी सी चपत जमाकर कहा--आहा, भेट में भूख और मुँह में लाज ! जा, अब अधिक गम्भीरता दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। अब चल। कहीं मेरे देवर को आकाश के तारे न गिनने पड़ते हों।

वासन्ती सुजाता को उसके कमरे में ले आई और कहने लगी--यह लो विनय बाबू, अब इस तरह आँखें फाड़-फाड़कर दरवाजे की ओर ताकने की ज़रूरत न पड़ेगी। अब भीगी बिल्ली की तरह लेटे न रहकर उठो और दरवाज़ा बन्द करो।

विनयकुमार ने हँसकर कहा--क्या आपने कभी दरवाज़ा ताकते देखा है भाभी ?

वासन्ती ने कहा--देख तो मैं सभी कुछ पाती हूँ, परन्तु कोई-कोई ऐसा समय होता है, जब मौन ही हो जाना पड़ता है। होगा, अब पाखंड करने की ज़रूरत नहीं है, उठ कर दरवाज़ा बन्द कर लो।

विनयकुमार ने कहा--क्यों ? मैं न बन्द करूँ तो क्या दरवाज़ा बन्द ही न होगा ?

वासन्ती ने कहा--क्यों भाई, निरर्थक समय नष्ट करते हो। इधर बातचीत में ही घड़ी की सुइयाँ बराबर बढ़ती जा रही हैं। अन्त में चलकर मुझे कहीं तुम दोनों का शाप न लेना पड़े।

हँसते हँसते विनयकुमार ने कहा--नहीं भाभी जी, आप इसके लिए ज़रा भी भय न कीजिए, मैं आपको शाप नहीं दूँगा।

वासन्ती ने सुजाता को कमरे में ठेल दिया और दरवाज़ा भिड़ा-

कर चली गई। बिनयकुमार भी उतावली के साथ उठ खड़े हुए। उन्होंने द्वार बन्द करके सुजाता से कहा—"आज मेरा इस तरह का भाग्य कैसे हुआ ?—" यह कहकर उसने सुजाता को गम्भीर आलिङ्गन में आबद्ध कर लिया। परन्तु वासन्ती गई नहीं थी। वह खड़ी-खड़ी झिलमिली का एक पत्ता उठाकर उसी की साँस से एकाग्रभाव से सारा दृश्य देख रही थी। विनय का मुख देखकर वासन्ती बहुत ही तृप्ति का अनुभव कर रही थी। उसका सुजाता का सजाना मानो आज सार्थक हो गया। वहाँ से वह धीरे-धीरे अपने सोने के कमरे की ओर आ ही रही थी कि चमेली ने कहा—भाभी, अभी तुम सोई नहीं हो ?

वासन्ती ने कहा—नहीं, सुजाता को उसके कमरे में पहुँचा आई हूँ न, इसी लिए जरा देरी हो गई। आपने भोजन कर लिया है दीदी ? चमेली ने कहा—हाँ, खा आई हूँ। सुना है भाभी, सन्तोष भाई ने लिखा है कि गर्मी की छुट्टियों में वे न आ सकेंगे। शायद उनका कोई साथी उन्हें शिमला लिये जा रहा है। यदि हो सका तो वहाँ से लौटते समय वे यहाँ से होते जायँगे।

चमेली के ये थोड़े से शब्द वासन्ती के हृदय में गड़ गये। वेदना से कातर कण्ठ से उसने कहा—मैं जानती हूँ दीदी, वे यहाँ नहीं आवेंगे। यह बात अलग है कि आप लोगों के सामने मैं यह बात कहती नहीं थी। परन्तु मैं जानती न होऊँ, यह बात नहीं थी। आप लोगों ने निरर्थक ही मुझे रोक रक्खा, नहीं तो शायद वे आ भी जाते।

चमेली ने कहा—क्या बतलाऊँ भाई, कुछ कहने लायक़ बात नहीं है। पहले जब मैं विधवा हुई थी तब सोचती थी कि शायद विधवा का-सा क्लेश और किसी को नहीं है। परन्तु मुझे अब ऐसा लगता है कि जो क्लेश आपको है वह किसी विधवा को भी नहीं है। बात यह कि विधवाओं को कम से कम स्मृति का बल तो रहता ही है। इसके सिवा जो बात भगवान् के हाथ में है उसमें किसी का जोर

नहीं है। परन्तु इस प्रकार की अवस्था में तो कोई ऐसी बात ही नहीं है, जिससे सान्त्वना प्राप्त की जा सके।

चमेली ने जब एक ठंडी आह भरकर अपनी बात समाप्त की तब वासन्ती ने कहा—यह भी कर्म का भोग है दीदी! पूर्व जन्म में कितने पाप किये हैं, कितने लोगों का चित्त दुःखी किया है, इस जन्म में उसी का फल भोग रही हूँ। ऐसा स्वामी कितनी स्त्रियों के भाग्य में बदा होता है दीदी! परन्तु इसके लिए भी मेरा चित्त इतना दुःखी नहीं होता। अपने चित्त को मैं बहुत भुला रखती हूँ। यह बात अवश्य है कि उनके व्यवहार से कभी कभी मैं बहुत दुःखी होती हूँ। यहाँ न आकर उन्होंने केवल मुझे ही दुःखी किया है, यह बात नहीं है। इससे फूफा जी तथा बुआ जी को कितना दुःख हुआ है। उन्हें कम से कम इन लोगों का खयाल तो करना ही चाहिए था। यही सब बातें सोच सोचकर तो कभी कभी जी में आता है कि आत्महत्या कर लूँ। शायद वे मेरे मरने पर सुखी हो सकें।

चमेली ने वासन्ती का हाथ पकड़कर कहा—इस तरह की बात को कभी मन में भी स्थान न देना भाभी! किसी न किसी दिन वे अपना अपराध समझ सकेंगे। तब देखना। कहीं आप मर गईं तो सभी समाप्त हो जायगा। उसके सिवा ऐसा करने से हानि ही किसकी होगी? क्या वे तुम्हारा दुःख समझ पाते हैं? वे तो अपने ही दुःख के कारण व्याकुल हैं।

वासन्ती ने कहा—जानती हूँ दीदी कि दुःख करने से कोई लाभ न होगा, क्योंकि इस दुःख के कटने की कोई आशा नहीं है। जो भिखारिणी गली गली भिक्षा माँगती फिरती है वह भी साँझ को लौटकर घर आने पर यदि स्वामी की गोद में मस्तक रख पाती है तो समस्त दिन का परिश्रम उसे क्लान्त नहीं कर पाता। यह बात उसे मालूम है। मेरे संगलिप्सा कितनी सुखकर है, यह बात उसे मालूम है। मेरे

हृदय के भीतर तो चौबीस घंटे भूसी की-सी आग सुलगती रहती है। मुझसे अब रहा नहीं जाता। मैं करूँ क्या?

वासन्ती को सान्त्वना देती हुई चमेली कहने लगी—भाभी, यह बुरा ही हुआ जो मैंने तुम्हारे सामने यह बात छेड़ दी।

वासन्ती ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—तुम छिपाकर कितने दिनों तक रख सकती थीं दीदी? किसी न किसी दिन तो यह बात मालूम ही हो जाती। इसके सिवा मैं स्वयं क्या कुछ समझती ही नहीं? मैं सब जानती हूँ, सब समझती हूँ। फिर भी पता नहीं, क्यों इस तरह बनी रहती हूँ।

चमेली को चुप देखकर वासन्ती ने कोई और बात मुँह से नहीं निकाली। वह चुपचाप सोने चली गई। सन्तोष के आने का हाल सुनकर उसने ज़रा-सी शान्ति का अनुभव किया था, साथ ही उसके मन में थोड़ी-बहुत आशा का भी संचार हुआ था, किन्तु वह सब भी अब जहाँ का तहाँ हो गया। अब उसकी आँखों में प्रबल वेग से आँसू आने लगे। उसने तो सभी प्रकार की आशायें त्याग दी थीं, केवल आँख से देख भर लेनें की अभिलाषा थी, उसके भी पूर्ण होने में इस प्रकार का व्याघात! मन ही मन उसनें कहा—मैं तो पत्नी होने का अधिकार चाहती नहीं। मैं चाहती हूँ केवल आँख भरकर देख लेना। परन्तु क्या मुझे एक बार अपने आपको दिखला देने में भी आपका राजभाण्डार शून्य हो जायगा? अरे निष्ठुर! अरे निर्दयी! क्या इतना भी मैं नहीं पा सकती हूँ। आघात पर आघात सहन करते करते हृदय का घाव बढ़ता ही जा रहा है, दिन दिन अपनी शक्ति भी खोती जा रही हूँ। इस अवस्था में भी क्या मुझ पर दया न आवेगी? क्या जीवन के अन्तिम दिन में भी तुम्हें न देख पाऊँगी? क्या चिरजन्म की अपूर्ण वासना लेकर ही मुझे यह मर्त्यलोक त्याग करना पड़ेगा? मेरी साधना क्या फलवती नहीं होगी?

———

तेईसवाँ परिच्छेद

भावान्तर

दो महीने तक शिमले में निवास करने के बाद सन्तोष इलाहाबाद में बुआ जी के पास आ गया। उसके शरीर की अवस्था देखकर बुआ जी ने कहा––क्या यही तुम्हारा शरीर सुधारना है सन्तोष ?

सन्तोष ने कहा––क्यों बुआ जी ? मैं तो समझता हूँ कि ख़ूब मोटा हो आया हूँ।

बुआ जी ने दुःखमय स्वर में कहा––बेटा, तुम्हारा तो सदा यही हाल रहा है। इतना बड़ा तू हो गया। क्या अब भी तेरा लड़कपन दूर नहीं हुआ है रे !

सन्तोष ने केवल ज़रा-सा मुस्करा भर दिया। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

विनय ने कहा––आप यदि दो मास वहाँ न व्यतीत करके यहीं रह जाते तो शायद आपका शरीर कुछ सुधर भी जाता। परन्तु आपने तो यह सोचा नहीं। क्या बतलावें ?

सन्तोष ने कहा––मेरा तो यहाँ आने का निश्चय ही था, बीच में रतन ने आकर झमेला पैदा कर दिया।

विनय ने कहा––कौन रतन, भैया ? जो विलायत से पास करके आये हैं, वही न ?

सन्तोष ने कहा––हाँ, उन्होंने विवाह कर लिया है, एक लड़का भी हुआ है। उनसे भला कभी मेरा पिंड छूटनेवाला था ?

इतने में बुआ जी ने कहा––अच्छा, बातचीत बाद को करना, इस समय उठकर कपड़े उतार दो और ज़रा-सा जलपान कर लो।

वासन्ती इससे पहले ही सिराजगंज जा चुकी थी। वहाँ वह लगातार छः महीने तक रही थी। ताई जी को अकेले रहने में बड़ा कष्ट होता था, साथ ही वासन्ती के बिना ज़मींदारी का काम-काज भी नहीं चल पाता था, इसलिए उसे घर जाना पड़ा। चमेली को भी वह साथ ले गई थी। बुआ जी ने भी बहुत कुछ अपनी इच्छा से ही उसे भेजा था। उन्होंने सोचा कि वासन्ती यदि अकेली ही गई और फिर पहले की तरह खाना-पीना छोड़ दिया तो बड़ा गड़बड़ हो जायगा। इसी लिए पति-पत्नी ने सलाह करके चमेली को साथ कर दिया।

उस दिन साँझ को बुआ जी के पास बैठकर सन्तोष पूछ रहा था कि इलाहाबाद में कौन कौन-सी चीज़ें देखने योग्य हैं। बात-चीत के सिलसिले में उसने पूछा—बुआ जी, क्या चमेली ससुराल गई है?

बुआ जी ने कहा—क्या वे लोग कभी खोज-खबर लेते हैं बेटा? जिसके साथ नाता था वही जब हम लोगों की ममता का बन्धन तोड़कर चला गया तो अब चमेली की उन लोगों के लिए क्या आवश्यकता है? इस समय तो वह कुलक्षणी है। वे लोग उसे बहुत कष्ट देते हैं, कहते हैं कि इसी अभागिनी के कारण हमारे लड़के की मृत्यु हुई है। उसकी दुर्दशा का हाल सुनकर तुम्हारे फूफा जी वहाँ गये और अनेक झंझटों के बाद उसे यहाँ ले आये हैं।

यह बात समाप्त करके बुआ जी ने एक आह भरी। परलोकगत जामाता का स्मरण हो आने के ही कारण बुआ जी इस प्रकार एकाएक दुःखी हो उठीं, यह बात सन्तोष ने अनायास ही समझ ली। उसने बहुत ही मन्द स्वर से कहा—वहाँ की कुछ सम्पत्ति उसे मिली है? सुना तो था कि उसकी ससुराल के लोग बहुत बड़े आदमी हैं।

अनाज साफ़ करते-करते बुआ जी ने कहा—इसी सम्बन्ध में तो मुक़दमेबाज़ी हो रही है। देखें, आगे चलकर क्या होता है।

सन्तोष ने मन्द स्वर से कहा---अपने जीवनकाल में आप लोगों को उसके लिए कोई न कोई व्यवस्था कर देनी चाहिए, जिससे आगे चलकर उसे कोई क्लेश न हो।

बुआ जी ने कहा---वे तो उस दिन यही कह ही रहे थे। वे कहते थे कि हम लोगों की आँखें बन्द हो जाने पर, भगवान् न करें, विनय से कहीं उसकी अनबन न हो जाय। उस अवस्था में क्या वह सम्पत्ति का कारबार देख सकेगी? हम लोग जीते-जी लड़के को यदि समर्थ कर सकें, साथ ही उसे सब समझा-बुझा सकें, तो सम्भव है कि मामला चल जाय। चमेली तो कुछ समझती नहीं है। जमींदारी के काम-काज के कारण हमारी बहू अलग घबरा गई है। दो-एक जगह की थोड़ी-बहुत जमींदारी नीलाम भी हो गई है। अन्त में उन्होंने जाकर सारी व्यवस्था की तब कहीं मामला कुछ ठिकाने पर आया। लगातार दो महीने तक साँझ को बहू को बुलाकर वे रोज एक एक बात समझाते रहे। फिर भी क्या वह कुछ समझ सकी है?

सन्तोष ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसे चुप देखकर बुआ जी ने फिर कहा---अभी एक ही महीना हुआ है। इस बीच में कम से कम सौ चिट्ठियाँ तो आई होंगी। कभी लिखती है, मुझसे कुछ सँभलता नहीं, आप एक बार आइए। हम लोगों की ऐसी कच्ची गृहस्थी है कि इसे छोड़कर भला कहीं जाने का अवसर है? विनय की बहू कुछ बड़ी हो जाय तो शायद हमें कुछ अवकाश मिल सकता है। जाते समय वह रोने लगी, बोली कि मैं अकेली कैसे जाऊँ, दीदी को साथ में भेज दीजिए। मैंने भी सोचा कि चमेली के जाने की जो जगह थी उसे तो भगवान् ने छीन ही लिया, वहीं जाकर दस दिन रह आवे। नई जगह में जाने पर शायद उसे कुछ शान्ति मिल सके। इसके सिवा बहू को खाने-पीने तक से विरक्ति हो गई है। चमेली रहेगी तो किसी न किसी तरह उसे कुछ खिलावेगी ही। यही सब

सोच-समझकर उसे साथ में कर दिया है। तो भी काम नहीं चल रहा है, केवल चार चार पन्ने की चिट्ठियाँ आ रही हैं और उन सबमें लिखा रहता है कि आप आइए।

सन्तोष सोच रहा था कि आज मैं अकेला हूँ। किसने मुझे इस प्रकार के निर्वासन का दण्ड दिया है? स्वयं मैंने ही या और किसी ने? विवाहिता पत्नी को कब किसने इस तरह तिरस्कृत किया है? छः वर्ष का लम्बा समय प्रायः बीत चला है। इतने समय के बीच में क्या एक बार भी मैंने उसे देखा है? मुँह से एक बात भी कभी उससे पूछी है? उस दिन जब स्वयं आगे बढ़कर उसने मुझे बुलाया था तब उसके हृदय को कितना क्लेश पहुँचाकर मैंने उसे लौटा दिया था। जितने बार भी वह मेरी कृपा की भिक्षा माँगने आई है, मैंने उसे दुतकार ही दिया है। क्यों? इस तरह से उसका जीवन नष्ट कर देने की क्या आवश्यकता थी? आज यदि वह उपयुक्त स्वामी के हाथ में पड़ती तो उसका रमणी-जीवन कितनी सार्थकता न प्राप्त करता! क्या मैंने ऐसा करके कोई उचित कार्य किया है? इसके साथ साथ मैं ही स्वयं अपनी भी दुर्दशा का कारण हूँ, यह बात विवेक बार बार उसे स्मरण करा रहा था। आज सन्तोष के हृदय में अत्यन्त ही प्रवल आत्मग्लानि जाग्रत् हो रही थी।

बुआ जी ने देखा कि सन्तोष कुछ सोच रहा है। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वासन्ती को ग्रहण करने के सम्बन्ध में मैं सन्तोष से कभी कुछ न कहूँगी। आज इतने दिनों के बाद उन्होंने देखा कि सन्तोष का मुख-मंडल कुछ मलीन और गम्भीर है, साथ ही उस पर चिन्ता की रेखायें भी उदित हो आई हैं। यह देखकर वे कुछ तृप्त हुईं। वे सोचने लगीं, सम्भव है कि इससे विरागी का चित्त थोड़ा-बहुत अनुरागी हो उठे। अकस्मात् उनके हृदय से एक ठंडी साँस निकल गई। उन्होंने मन ही मन कहा—अहा, ऐसा स्वामी पाकर वह अभागी गृहस्थी के सुख का अनुभव न कर पाई!

इतने में विनय ने आकर कहा—भैया, क्या घूमने न चलोगे ?

सन्तोष ने कोई उत्तर न दिया। उसे चुप देखकर विनय ने फिर कहा—आपने कहा था कि आज घूमने चलेंगे, इसी लिए पूछ रहा हूँ।

विनय को रोककर बुआ जी ने कहा कि आज घूमने जाने की ज़रूरत नहीं है। दो-तीन दिन तक रात में जागता हुआ आया है, सवेरे-सवेरे सो जाने दो।

विनय ने हँसकर कहा—मा स्वयं गाड़ी में जागती रहती हैं, इससे वे समझती हैं कि दूसरे लोग भी जागते ही रहते हैं। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है मा। हम लोग तो ख़ूब सो लेते हैं। हम लोगों का शरीर इस तरह नहीं ख़राब होता। चाहे तुम भैया से पूछ लो।

महामाया ने एक हलकी-सी हँसी के साथ कहा—क्या करूँ बेटा, मुझे रेल में नींद नहीं आती। न-जाने कैसे शरीर काँपता-सा रहता है। लेकिन तुम लोग तो बेटा ख़ूब निश्चिन्त होकर सोते हो।

विनय ने कहा—भैया, मा से ज़रा पूछो तो कि वे गाड़ी में क्यों नहीं सो पातीं ?

सन्तोष ने कहा—अच्छा बुआ जी, आप जागती क्यों रहती हैं ?

"मुझे ऐसा जान पड़ता है बेटा, मानो गाड़ी उलटी जा रही है। बस, झट से नींद उचट जाती है। मैं उठ बैठती हूँ। इसके लिए वे लोग मेरी कितना हँसी उड़ाया करते हैं।"

विनय ने दो-एक बार इधर-उधर ताक कर सन्तोष की ओर देखा, और कहने लगा—तो आज तो जाना न होगा न भैया ? अच्छा आप बैठिए, मैं ऊपर से एक किताब लेकर आता हूँ।

विनय ऊपर चला गया। पुत्र का यह बहाना समझने में महामाया को विलम्ब न हुआ। किताब की कितनी आवश्यकता है, यह वे समझ गईं। पहले वह केवल रात का ही ऊपर जाता था, परन्तु अब रात-दिन के बीच में कम से कम बीस बार तः वह नीचे से ऊपर जाता होगा।

चौबीसवाँ परिच्छेद

खिन्नता

प्रायः सन्ध्या हो चली थी। देखते ही देखते पूर्व दिशा प्रभाहीन हो उठी। अस्ताचलगामी मरीचिमाली की किरणों से पश्चिमी गगन सिन्दूर-रंजित हो उठा। धीरे-धीरे अन्धकार फैलने लगा, चारों दिशायें उसमें विलीन हो गईं। सिराजगंज की एक एक सड़क पर अगणित दीप-शिखायें प्रज्ज्वलित हो उठीं। समीप ही नदी-तट पर बंधी हुई नौकाओं के समूह का प्रकाश खद्योत-माला के समान प्रतीयमान हो रहा था। वर्षा के जल से उमड़ी हुई यमुना की जल-राशि उन्नत वेग से ब्रह्मपुत्र के संगम की ओर प्रवाहित हो रही थी। नदी के तट पर वसु महोदय की अट्टालिका के बरामदे में खड़ी होकर वासन्ती एकाग्र चित्त से यह सब देख रही थी। उसने एक लम्बी साँस ली और सोचने लगी कि मानव-जीवन में भी इसी तरह एक दिन आशा का आलोक उज्ज्वल हो उठता है, बाद को वही निराशा के अन्धकार से आच्छादित हो जाता है। मेरे जीवन में भी तो एक दिन आशा का आलोक उदित हुआ था, बाद को वही आलोक निराशा के अन्धकार में विलीन हो गया। क्या उसके फिर से प्रज्वलित हो उठने की कोई आशा नहीं है? इस यमुना को ही देखो। यह साल भर तक विरह के ताप से संतप्त होने के बाद नव-यौवन के दर्प से गर्वित होकर आज प्रियतम के दर्शन की आकांक्षा से आकुल हो उठी है। यही कारण है कि अपने दोनों ही तटों को प्लावित करके बहुकाल की सञ्चित व्यथा को प्रियतम के चरणों में अर्पित करने के विचार से दौड़ी चली जा रही है। आज कितने आनन्द से उसका हृदय परिपूर्ण हो उठा है! इतने दिनों तक प्रिय की विरह-ताप से संतप्त

होने के बाद उसे मिलन की जो आशा हुई है उसके कारण उत्कण्ठा से अधीर होकर उसने अपना शरीर डुबो दिया है और चञ्चल गति से दौड़ रही है। परन्तु क्या मेरी भी आशा के पूर्ण होने का कोई उपाय है? मृत्यु के बिना मेरा छुटकारा नहीं है।

अमावस्या की रात्रि का घोर अन्धकार क्रमश: घनीभूत होने लगा, अन्त में उससे पृथ्वी आच्छादित हो गई। अट्टालिका के समीप जो वृक्ष लगे थे उन पर बैठे हुए चमगादर किचमिच किचमिच करने लगे। दूर से दो-एक उल्लुओं का कर्कश स्वर सुनाई पड़ा। जरा ही दूर पर नदी के तट पर जो नौकायें बँधी थीं, उन पर क्षीण आलोक उस समय भी प्रज्वलित हो रहा था। वासन्ती दोनों हथेलियों पर मस्तक रक्खे हुए सोच रही थी कि शिशुकाल से ही तो मेरा जीवन मरुभूमि हो रहा है। मूलहीन शैवाल के समान संसाररूपी स्रोत में प्रवाहित होते होते मेरी मा ने मुझे लेकर जब मामा के यहाँ आश्रय लिया था तब से केवल चार वर्ष तक वे जीवित रह सकीं। इस प्रकार शैशव-काल में केवल चार वर्ष तक मैं मातृस्नेह से वर्द्धित हुई हूँ। अब वह समय मुझे स्वप्न-सा मालूम पड़ रहा है। बाद को जब माता की मृत्यु हो गई तब फिर मामी के द्वारा दी गई अशेष यन्त्रणा सहन करते ही करते बड़ी हुई। मेरे उज्ज्वल भविष्य की क्षीण आलोक-रेखा की चर्चा जब जगह जगह होने लगी, सखियाँ तब मुझे घेर कर बैठ गईं और कहने लगीं कि बड़े आदमी की बहू हो जाने पर यह कितनी सुखी होगी, कितने ऐश्वर्य की अधिकारिणी होगी। इसी तरह की न जाने कितनी अद्भुत बातें मेरे सम्बन्ध में कही जाने लगीं। उस समय की बातें मानो परियों की कहानियाँ थीं। वह सब सुन-सुनकर मेरा क्षुद्र हृदय किस तरह के अपरिसीम आनन्द का अनुभव कर रहा था। अन्त में जब सचमुच राजप्रासाद के समान विशाल भवन में नववधू का वेष धारण करके मैंने पहले-पहल प्रवेश किया तब मैं यथार्थ ही विस्मित हो उठी थी।

वासन्ती की विचार-धारा पूर्ववत् जारी रही। वह मन ही मन कहने

लगी—धीरे-धीरे मेरे हृदय में जब ज्ञान का संचार हुआ तब मैंने अपनी अवस्था पर विचार करना सीखा। जिसकी बदौलत मैं इतने बड़े ऐश्वर्य की अधिकारिणी हुई और जिसके हृदय पर अधिकार न कर सकने के कारण सुखोपभोग से वंचित रही उसके घृणित व्यवहार से मैं सर्वथा स्तम्भित हो गई। जीवन के सहचर से वञ्चित होने के कारण यह बृहत् अट्टालिका मेरे लिए बहुत ही कष्टकर प्रतीत होने लगी। उस समय स्नेह के एकमात्र आधार श्वशुर के अत्यधिक आदर-यत्न के कारण मैं अपने विड़म्बनापूर्ण जीवन की असह्य यन्त्रणा को बहुत कुछ भूल गई। परन्तु वे भी जब मुझे त्याग कर चले गये तब मेरे हृदय का कितना अंश शून्य हो गया, यह भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी न समझ सकेगा।

वासन्ती के हृदय में स्वामी के प्रति सहानुभूति भी जाग्रत हो उठी। वह फिर सोचने लगी—कदाचित् स्वामी के जीवन की गति परिवर्तित करने के ही लिए मैं उस दिन श्वशुर के दृष्टिपथ पर पड़ी थी। जिस प्रकार दुष्ट नक्षत्र पर क्रूर ग्रह के आ जाने से मनुष्य का जीवन संकटापन्न हो जाता है, उसी प्रकार उनके भी तरुण जीवन में धूमकेतु के समान उदय होकर मैंने उनके जीवन के सारे सुखों, सारी शान्ति का हरण कर लिया। आज यदि मेरे साथ उनका इस प्रकार का सम्बन्ध न होता तो सम्भव है कि उनके जीवन की गति परिवर्तित न होती। शायद वे बाबू जी का स्नेह भी न खो सकते। अतुलित ऐश्वर्य के अधिकारी होकर भी वे आज दीन-हीन कंगाल के समान गली-गली भटकते न फिरते, अपने जन्म-गृह से इस प्रकार विदा न ले लेते।

दानपत्र के द्वारा वसु महोदय अपनी सारी सम्पत्ति वासन्ती को दे गये थे। उसके लिए भी आज वह दुःखी हो रही थी। मन ही मन वासन्ती कहने लगी—बाबू जी ने ही यह क्या किया? वे यदि सारी सम्पत्ति मेरे नाम न लिख जाते तो वे गृहत्यागी तो न होते! वे यदि घर में रहते तो मुझे इस तरह की अपार वेदना न सहन करनी पड़ती।

साँझ तक कम से कम एक बार तो इष्ट-देवता के चरणों के दर्शन प्राप्त करके चिर-जीवन की अतृप्त पिपासा निवृत्त कर ही पाती। विवाहिता पत्नी को वे घर से बहिष्कृत तो कर सकते नहीं थे! वैसी दशा में मेरे हृदय के देवता मुझसे इतने दूर दूर तो न रहते!

आज मैं एक ऐसे मन्दिर की पुजारिन हूँ जिसमें देवता की मूर्ति नहीं है। परन्तु यदि वे यहाँ होते तो मुझे इस तरह शून्य मन्दिर में रहकर निराशा के अन्धकार में जीवन न व्यतीत करना पड़ता। पता नहीं, और कितने दिन तक, कितने युग-युगान्तर तक, कितने दिन-रात मुझे इस घर में देवता के दर्शन की आकांक्षा से इसी तरह व्यतीत करने पड़ें। यह पत्थर की अट्टालिका तो शून्य है, प्राणहीन है, इसमें निवास करना कितना कष्टकर है! किन्तु उपाय?

यही सब सोचते सोचते वासन्ती की आँखों की पलकें भीग उठीं। अनायास ही कमरे से एक आह निकल पड़ी। तब वासन्ती हाथ जोड़ कर राधा-वल्लभ के मन्दिर की ओर ताकती हुई कहने लगी—हे दयामय, अनाथों के नाथ, दीनबन्धु, तुम कहाँ हो! कितनी दूरी पर छिपे हो? अन्तर्यामी, व्यथाहारी, हे नारायण, मधुसूदन, तुमने मेरी यह कैसी दशा कर दी है? समस्त दिन की असह्य वेदना का भार लेकर जब सन्ध्या के अन्धकार में तुम्हारे चरणों के समीप, तुम्हारे ध्यान में, तुम्हारे नाम-स्मरण के द्वारा तृप्त होने जाती हूँ, तब धीरे-धीरे मेरा रुद्ध द्वार उन्मुक्त करके चन्दन से सुशोभित एक मुख, आँखों का एक जोड़ा रूपी तारे, दूर—बहुत दूर—किसकी उज्ज्वल मूर्ति में उदित हो आते हैं? उस समय मैं तुम्हारी यह चराचर को लुभा लेनेवाली अनुपम मूर्ति, अरुण चरण, मधुर नाम तथा समस्त संसार भूल जाती हूँ। न जाने कैसे एक अनिर्वचनीय आनन्द, आशा के उज्ज्वल आलोक से हृदय परिपूर्ण हो उठता है! उस समय पता नहीं, कौन-सी ऐसी मोहरूपी मदिरा मुझे उन्मत्त कर देती है। समस्त दिन का हृदय का असह्य भार लेकर जो कुछ तुम्हारे चरणों में निवेदन करने आती हूँ उसे

फिर नहीं निवेदन कर पाती। हाथ-पैर निश्चल हो जाते हैं, समर्पित किया हुआ अर्घ्य हाथ में ही पड़ा रह जाता है, जिह्वा अकर्मण्य हो उठती है, तुम्हारा नाम भी नहीं उच्चरित हो पाता, मुँदे हुए नेत्रों से तुम्हारा दर्शन नहीं कर पाती हूँ, व्यर्थता के भार से हृदय दब जाता है, वेदना के ताप से सन्तप्त निःश्वास हृदय को भेद कर निकल पड़ते हैं और विभिन्न दिशाओं में विलीन हो जाते हैं। यह सब क्या तुम्हारे हृदय को स्पर्श करता है? मुझे तो ऐसा लगता है कि पूजा का सारा आयोजन ही निष्फल हो गया है। वह तो केवल गगन पर से गिरे हुए नक्षत्र के समान अवलम्बनहीन होकर गाढ़ अन्धकार में कहीं पड़ा होगा। कौन उसे खोजेगा जी? कौन उसे खोजेगा?

रात्रि अधिक बीत गई। चारों दिशायें नीरव, निस्तब्ध हो उठीं। सड़क पर पथिकों का आना-जाना भी कम हो गया। वासन्ती तब भी नहीं उठी। एक कोच पर बैठी हुई दोनों हथेलियों पर मस्तक रक्खे वह गम्भीर चिन्ता में निमग्न थी। चमेली कब से आकर उसके पास खड़ी थी, इसका उसे पता नहीं चल सका। कुछ देर के बाद वासन्ती की चिन्ता भंग करने के विचार से चमेली ने उसके शरीर पर हाथ रक्खा और कहने लगी—इतनी देर से क्या सोच रही हो भाभी? परन्तु वासन्ती उस समय चिन्ता से इस प्रकार अभिभूत थी कि चमेली ने क्या कहा, यह उसके कान तक में न पड़ सका। उसके शरीर में केवल किसी के शीतल हाथ का स्पर्श भर हुआ, इसी में वह चौंक पड़ी और कहने लगी—कौन है? दीदी? काम से फ़ुर्सत मिल गई?

चमेली ने हँस कर कहा—इतनी देर के बाद होश आया है? मैं क्या क्या कह गई, यह सब शायद तुम्हारे कान में नहीं पड़ सका।

वासन्ती ने कहा—क्या कह रही थीं दीदी? मैं इन माँझियों का तमाशा देख रही थी।

चमेली ने कहा—साँझ से ही तुम आई हो। तब से यहाँ अकेले में बैठी बैठी क्या कर रही हो? मैं घर भर में तुम्हें खोज आई।

कहीं पता नहीं चल सका। अन्त में यहाँ आकर देखा तो तुम्हें बैठा पाया। परन्तु तुम मेरे आने की आहट भी नहीं पा सकीं। रात-दिन इतनी चिन्ता में क्यों पड़ी रहती हो भाभी?

बासन्ती सहम गई। वह कहने लगी—किसी भी चिन्ता में तो नहीं पड़ी थी दीदी? चिन्ता किस बात की करूँगी?

बासन्ती चमेली से यह बात कह तो गई, परन्तु अपने मन के सामने वह सच्ची बात छिपा नहीं सकी। सचमुच उस समय वह चिन्ता में पड़ी थी। क्या उसकी चिन्ता की कोई सीमा थी?

जरा देर के बाद चमेली ने कहा—क्या सुषमा कल आवेगी?

बासन्ती उस समय चिन्ता के जाल में इस तरह फँसी थी कि उसे चमेली के वहाँ रहने की याद तक नहीं रह सकी। एकाएक चमेली के इस प्रश्न से चौंक कर वह कहने लगी—सुषमा दीदी ने चिट्ठी में लिखा तो यही है। देखो दीदी, सुषमा दीदी जब आ जायँ तब हम लोग थोड़े दिनों तक घूम आवें। ताई जी बहुत दिनों से तीर्थ-यात्रा करने के लिए उत्सुक हैं। मैंने बुआ जी को लिखा है कि फूफा जी से पूछ कर जैसा वे कहें वैसा लिख दें। परन्तु अभी तक उनका कोई उत्तर नहीं आया। वे यदि कहें तो थोड़े दिनों तक कहीं घूम आवें। तुम भी चलोगी न?

चमेली ने कहा—मा की चिट्ठी आई है। तुम जब पूजा के घर में थीं तभी मैं वह चिट्ठी तुम्हारे डेस्क में रख आई हूँ। बाबू जी को कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु उन्होंने पूछा है कि तुम लोगों के साथ पुरुष कौन जा रहा है। मा ने यह भी लिखा है कि आज-कल सन्तोष भाई वहीं हैं। उनकी तबीअत बहुत खराब है।

एक लम्बी साँस लेकर बासन्ती ने कहा—शायद उन्होंने शरीर की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। इसके सिवा परदेश में वे अकेले रहते हैं। कौन उनके सुख-दुःख की चिन्ता करनेवाला है? यदि बुआ जी के पास वे कुछ दिन रह जाते—

वासन्ती की बात समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि चमेली ने कहा—मा ने भी तो यही लिखा है। वे उन्हें कुछ दिनों तक वहाँ रखने का प्रयत्न करेंगी। परन्तु शायद वे अधिक दिनों तक वहाँ रहेंगे नहीं।

वासन्ती ने इन कई वर्षों में स्वामी का मनोभाव खूब अच्छी तरह से परख लिया था। वह चमेली से कहने लगी—मैं समझती हूँ दीदी, उन्हें भय है कि वहाँ कहीं मैं न पहुँच जाऊँ। देखो दीदी, मैंने कहा था न कि मैं जब तक इलाहाबाद में रहूँगी तब तक वे न आवेंगे। उस समय आप लोगों को मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। अन्त में वही बात ठीक निकली। आप बुआ जी को लिख दें कि उन्हें कोई भय नहीं है। मेरी संगति से यदि वे इस प्रकार दुःखी होते हैं या मुझसे घृणा करते हैं—

चमेली ने कहा—दुर पगली, यह भी कोई बात है? क्या वे पागल हैं? उन्हें विवेक-बुद्धि नहीं है?

वासन्ती ने रुद्ध कण्ठ से कहा—आप लोग उन्हें पहचानतीं नहीं। सुषमा दीदी जब मुझे लेकर उनके पास गई थीं उस समय का उनका व्यवहार जब याद आ जाता है तब दाँतोंतले अँगुली दबानी पड़ती है। साधारण पशु के प्रति मनुष्य के हृदय में जितनी दया रहती है, मेरे प्रति उनके हृदय में उतनी भी नहीं है। इसके सिवा उन्होंने मेरे मुँह पर यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है कि मैं तुमसे कभी प्रेम न कर सकूँगा। परन्तु इससे मेरा कोई मतलब नहीं है। मैं तो अब उसी बात का प्रयत्न करूँगी जिससे वे सुखी हो सकें। वे मुझे चाहे जितना ही तुच्छ, जितना ही घृणित समझकर दूर रक्खें, मैं उन्हीं की हूँ और वे ही मेरे सर्वस्व हैं। मेरे इस पद पर से मुझे कोई भी हटा न सकेगा। शायद वे भी न हटा सकेंगे। यदि भगवान् मुँह उठा कर देखें, यदि कभी वे लौट कर अपने घर में आवें, तब दीदी उसी समय मैं अपना अधिकार उनके लिए त्याग कर चली जाऊँगी। उनके सुख के मार्ग में मैं कण्टक न बनूँगी।

चमेली ने कहा—क्या कहती है पगली ? तू जायगी कहाँ ?

वासन्ती ने कहा—वे मूर्ख नहीं हैं, शराबी नहीं है, बुद्धिहीन नहीं हैं। परन्तु फिर क्या हैं, यह मैं आज तक नहीं खोज पाई। यौवन की उमङ्ग में उनके मन में जो भाव आया था उसी को ध्रुव सत्य मानकर उन्होंने धारण कर रक्खा है। इधर उनके साथ एक आदमी जो चिरदिन के बन्धन में आवद्ध है, उसके सम्बन्ध में क्या उन्होंने ज़रा-सा विचार करके देखा है ?

वासन्ती सोच रही थी कि क्या मनुष्य मनुष्य से इस प्रकार घृणा कर सकता है, क्या मैं ज़रा-सी भी दया, ज़रा-सी भी सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकती हूँ, मेरा अपराध क्या है ? यह तो आशातीत व्यथा है, इस व्यथा की निवृत्ति कहाँ है, इस ज्वाला का अन्त नहीं है, सीमा नहीं है, यह केवल धधकती ही रहती है ! चमेली उसके वेदना-क्लिष्ट मुंह की ओर ताकती हुई स्तब्ध भाव से खड़ी रही।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

परिवर्तन

सन्ध्या को रमाकान्त बाबू कचहरी से लौटने के बाद बैठे जलपान कर रहे थे। पास ही उनकी पत्नी बैठी थी। उन्होंने कहा—सुनते हो? बहू ने चिट्ठी लिखी है कि यदि फूफा जी आज्ञा दें तो मैं मामा जी को साथ में लेती जाऊँ।

रमाकान्त बाबू ने कहा—क्या तुम भी जा रही हो? तब भला इस बुढ़ापे में मेरी क्या दशा होगी?

महामाया ने क्रुद्ध स्वर से कहा—तुम्हें तो हर बात में हँसी ही सूझती है। मैं कब कहाँ जाती हूँ। मेरे पैरों में तो तुमने ऐसी बेड़ियाँ डाल रक्खी हैं कि जरा-सा हिल-डुल भी नहीं सकती, कहीं जाना तो दूर रहा। मैं जो पूछ रही हूँ, पहले उसका उत्तर दो। तुम्हारी जो कुछ सम्मति होगी वह मैं बहू को लिखूँगी, उसी के अनुसार वह अपना प्रबन्ध करेगी।

रमाकान्त बाबू ने कहा—बहू के मामा यदि साथ में जा रहे हैं तो फिर क्या आपत्ति हो सकती है? परन्तु मैं सचमुच पूछ रहा हूँ कि तुम जा रही हो या नहीं।

महामाया ने कहा—मेरा जाना नहीं होगा। चमेली क्या बहू का साथ छोड़ेगी? इसके सिवा मेरे चले जाने पर तुम लोगों का घड़ी भर भी निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में मैं कैसे घर से पैर निकाल सकती हूँ? उस अभागिन का अदृष्ट ही ऐसा है। नहीं तो क्या अभी उसकी तीर्थ करने की अवस्था है?

यह कहकर महामाया ने अञ्चल से आँखें पोंछ लीं। रमाकान्त बाबू पत्नी के आँसुओं से भीगे हुए मुंह की ओर ताकते हुए तथा बासन्ती

के दुर्भाग्य का स्मरण करके व्यथित कण्ठ से कहने लगे—तो यात्रा की सब व्यवस्था करने के लिए लिख दो।

यह बात समाप्त भी न हो पाई थी कि प्रयाग में जितने भी दर्शनीय स्थान हैं, उन सबको देखकर सन्तोष आ गया और बाहर के दरवाजे पर से ही कहने लगा—कहाँ जाओगी बुआ जी?

बुआ जी ने कहा—जाऊँगी कहाँ बेटा! तुम जल-पान न करोगे?

सन्तोष ने कहा—विनय ने आज मुझसे इतने चक्कर लगवाये कि मैं थककर चूर हो गया हूँ।

रमाकान्त बाबू तब तक जलपान समाप्त करके बाहर चले गये। महामाया ने सफ़ेद पत्थर की एक रकाबी में तरह तरह के फल और घर की बनी हुई मिठाई आदि सजाकर एक आसन के पास रख दिया। सन्तोष ने कहा—जरा विनय को बुला लूँ। उसके लिए भी ले आइए।

थोड़ी ही देर के बाद दोनों भाई आकर जलपान के लिए बैठे। रकाबी में सजाई हुई थोड़ी-सी सामग्री खा चुकने के बाद सन्तोष ने बुआ जी की ओर देखा। बुआ जी के हास्य से सदा विकसित रहनेवाले मुखमण्डल पर आज मानो गम्भीर विषाद की रेखा अङ्कित थी। यह नहीं मालूम हो रहा था कि इस कमरे में तीन व्यक्ति विराजमान हैं। उसमें गम्भीर नीरवता थी। कुछ क्षण के बाद सन्तोष ने वह नीरवता भङ्ग करते हुए कहा—कहाँ जाने को कह रही थीं बुआ जी?

बुआ जी ने रुद्ध कण्ठ से कहा—मैं कहाँ जाऊँगी बेटा! बड़ी बहू की चिट्ठी आई है। उन्होंने लिखा है कि फूफा जी यदि आज्ञा दें तो एक बार पश्चिम घूम जाऊँ। इसी से वे कह रहे थे कि किसी को साथ में लेकर घूम आने के लिए लिख दो। लड़की है, तबीअत ऊबी है, चार जगह घूम फिर कर देखने से बहुत कुछ—

बुआ जी की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि विनय बोल उठा—कौन कौन जा रहे हैं?

महामाया ने कहा—सभी तो जा रहे हैं। किसको किसको गिनाऊँ? क्या बहू का अभी इस तरह तीर्थ-धर्म करने का समय है? लेकिन उसका अदृष्ट तो है?

विनय ने कहा—तो क्या चमेली भी जायगी? जाते समय वे लोग यहाँ आवेंगे न?

महामाया ने सन्तोष को सुनाने के विचार से कहा—यहाँ वे लोग न आवेंगे। पहले-पहल वे लोग पुरी की ओर जायँगे और उस लाइन में जितने भी तीर्थ-स्थान हैं उन सबमें होकर लौटते समय सम्भव है कि यहाँ आवें। और चमेली भला बहू का साथ कब छोड़ने वाली है? उसने पहले ही चिट्ठी लिखी है। बहू ने लिखा है कि सब तीर्थ करके हमें देश लौटने में सात-आठ मास लग जायँगे। यहाँ का सारा काम-काज मैं दीवान जी को समझाये दे रही हूँ। उन्हें जब किसी प्रकार के परामर्श की आवश्यकता होगी तब वे फूफा जी को पत्र लिखेंगे, फूफा जी का पत्र पाते ही दीवान जी उनके निर्देश के अनुसार सारी व्यवस्था कर लेंगे। आज इन्होंने भी बहू को पत्र लिख दिया है कि तुम जा सकती हो।

महामाया ने सोचा कि सन्तोष बाद को कहीं कोई झंझट न खड़ा कर दे, इससे उन्होंने सारी बातें खोलकर कह दीं।

जलपान से निवृत्त होने के बाद दोनों भाई उठे। बुआ जी ने सन्तोष के मुँह की ओर देखा। पहले वासन्ती की चर्चा सुनने से उसके मुख पर जो विरक्ति की रेखा उदित हो आया करती थी, आज वह नहीं दिखाई पड़ी।

रात्रि के समय सन्तोष शय्या पर पड़े पड़े सोने के लिए निरर्थक प्रयत्न कर रहा था, परन्तु निद्रा किसी प्रकार भी नहीं आती थी। उसके कान में बुआ जी का केवल वही वाक्य "क्या उसकी अभी तीर्थ करने की अवस्था है" रह रह कर झङ्कृत हो रहा था। सन्तोष सोचने लगा—क्या सचमुच मेरा ही दोष है? क्या मेरे ही अत्याचार के कारण

आज वासन्ती ने यह कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर रक्खा है? सुषमा ने जो कुछ कहा था, क्या वही सच है? क्या मेरे ही उत्पीड़न से आज वासन्ती की इस प्रकार की दुर्दशा है? परन्तु मैं क्या करूँ? पिता जी ने इन सब बातों पर क्यों नहीं विचार किया?

आज सन्तोष की विचार-धारा ने निद्रा को पास तक नहीं फटकने दिया। वह बराबर वासन्ती की ही चिन्ता में पड़ा रहा। ज़रा ही देर में उसके जी में आया---पिता जी का ही क्या दोष है? मैंने तो उनसे कुछ कहा भी नहीं। सुषमा ठीक ही कह रही थी। मनुष्य के ऊपर मनुष्य बल का प्रयोग कर सकता है, परन्तु क्या बल से मन भी कहीं वशीभूत हो सकता है? यदि मैं विवाह के समय कहीं चला जाता तो शायद घटना और ही तरह की होती। परन्तु ऐसा तो मैं कर नहीं सका, पिता से बदला लेने का प्रयत्न करके बदला किससे लिया? सांसारिक ज्ञान से शून्य एक बालिका के साथ इस प्रकार निष्ठुरता का व्यवहार करके कितनी वेदना मैंने उसे पहुँचाई है? परन्तु आज इन सब बातों पर विचार करने से लाभ ही क्या है? सुषमा ने उस दिन कहा भी तो था कि प्रतिहिंसा-परायण पशु के हृदय में भी जितना दया का भाव होता है, मेरे हृदय में उतना भी नहीं है। क्या सुषमा की यह बात सच है? यदि हाँ, तो मेरे हृदय में यह पशुता का भाव किसने उत्पन्न कर दिया है? मेरे दुर्बल हृदय ने या और किसी ने? क्या मैं चिरदिन ऐसा ही था?

सन्तोष सोचने लगा---हृदय पर असह्य वेदना का यह गुरु-भार कब तक लाद रखना पड़ेगा? इस निरानन्दमय संसार के पथ पर कब तक संगीहीन होकर विचरण करते रहना पड़ेगा? यौवन के प्रारम्भ-काल में जिस समय नवीन आकाँक्षा से हृदय को परिपूर्ण करके संसार के द्वार-देश में आकर खड़ा हुआ था, उस समय किसी रुष्ट ग्रह के प्रकोप में पड़ जाने के कारण मेरे हाथ में आई हुई सिद्धि को, हृदय के परिपूर्ण आयोजन को, निमेष भर में किसने व्यर्थ कर दिया था? यह जो

जीवन की अपरिमित क्षति हुई है, यह जो किसी सहचर के बिना एकाकी रह कर जीवन-व्यापी दुःसह वेदना सहन कर रहा हूं, इसका कहीं अन्त है ? यह विच्छेद यदि विधाता को चिरदिन के ही लिए अभीप्सित था, तो दो दिन के लिए संसार के पथ पर हम एक-दूसरे से क्यों मिल गये थे ? व्यर्थता की निर्मम वेदना वक्ष पर धारण करके कितने दिन, कितने वर्ष, मुझे इस प्रकार व्यतीत करने पड़ेंगे, यह कौन जानता है ?

विधाता मंगलमय हैं। अपने मंगलमय हाथों से ही उन्होंने इस जगत् की सृष्टि की है। उन्हीं के बनाये हुए इस जगत् में जितनी आशा-निराशा, वेदना-विरह और दुःख-शोक है, वह क्या उन्हीं की सृष्टि है ? अपने ही उत्पन्न किये हुए पुत्र-कन्या के प्रति उन्होंने इस तरह के निष्ठुरता के अभिनय की सृष्टि क्यों की है ? जगत् में जो नर-नारी रहते हैं, उन सबके हृदय-विदारक हाहाकार के, उन मङ्गलमय भगवान् के, चरणों के समीप पहुंचने की क्या कोई आशा नहीं है ?

आत्मग्लानि के कारण सन्तोष अधीर हो उठा। वह सोचने लगा—विशाल दुःख का चितानल निरन्तर जलते जलते हृदय को भस्मीभूत कर रहा है ! विपुल वेदना के निष्पीड़न से वक्षःस्थल चूर-चूर हुआ जा रहा है ! जीवन के प्रभात-काल के प्रथम मुहूर्त में ही निराशा की जिस अत्यधिक व्यथा से वक्ष-पंजर जर्जरित हुआ जा रहा था, जीवन के अन्त में भी उसकी निवृत्ति की कोई आशा नहीं है। तो भी मैं किसलिए बचा हूं ? इस 'किसलिए' का उत्तर मैं कहाँ से खींच कर निकालूं ?

निद्रा न आ सकने के कारण सन्तोष खिड़की के समीप आकर खड़ा हो गया। बाहर ज्योत्स्ना की रजतधारा से पृथ्वी उद्भासित हो उठी थी। सन्तोष सोचने लगा कि मेरे हृदय में जो प्रगाढ़ अन्धकार फैला हुआ है उसे भेद कर वहाँ ज्योत्स्ना की उज्ज्वल धारा कब प्रवाहित होगी ? चन्द्रमा के शीतल किन्तु उज्ज्वल प्रकाश से मेरा हृदय

कब प्रकाशित होगा ? परन्तु यह तो अब होने का नहीं है। यह मेरा इच्छाकृत है। मैं तो स्वेच्छा से ही यह सब परित्याग करके आया हूँ। तब भला मेरा बुभुक्षित हृदय आज नवीन आशा की मादकता से विह्वल क्यों हो उठा ? वही तो मेरी विवाहिता पत्नी है, जिसके अयाचित प्रेम, हृदय में लबालब भरी हुई आशा को, पैर की ठोकर से चूर-चूर करके आया हूँ, जिसे एक ज़रा-सी सान्त्वना की बात तक कहने में घृणा का अनुभव किया था, बाण-विद्ध हरिणी के समान दुर्दशाग्रस्त होकर जो तड़फ रही थी और मैं स्वयं नीरव भाव से खड़ा होकर जिसे देख रहा था, छः वर्ष के सुदीर्घ समय तक जिस पत्नी की चिन्ता एक बार भी मैंने नहीं की, आज एकाएक बार-बार उसी अनादृता परित्यक्ता पत्नी की स्मृति क्यों जाग्रत हो रही है ?

सन्तोष बार-बार इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करने लगा। परन्तु जैसे जैसे वह उस चिन्ता से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा था, वैसे ही वैसे उसी चिन्ता के अन्तराल से बुआ जी की वही वाणी कि "क्या यह उसकी तीर्थ करने की अवस्था है", बार-बार प्रतिध्वनित होने लगी।

कमरे में जो घड़ी लगी थी उसमें एक कभी का बज चुका था। दो बजने को भी आगये। सुशीतल समीरण आकर सन्तोष के मस्तक के बालों को उड़ाने लगा। वायु का एक प्रबल झकोरा आया, जिसके कारण टेबिल पर रक्खी हुई किताब गिर पड़ी। उसके शब्द से चौंककर वह उठ बैठा। उसने किताब टेबिल पर रख दी और वह शय्या पर फिर लेट रहा। परन्तु आज निद्रा उसे किसी प्रकार भी नहीं स्पर्श कर रही थी। सन्तोष उस समय भी सोच रहा था—मैंने विश्वस्त-हृदय बालिका के प्रेमपूर्ण हृदय पर बड़े ज़ोर का आघात पहुँचाया है। अपने और उसके बीच में इतने बड़े अन्तर की सृष्टि क्या मैंने स्वयं नहीं की ? अपना अधिकार क्या मैं स्वयं नहीं छोड़ आया हूँ ? वासन्ती के सम्बन्ध में इसी तरह की कितनी ही बातें सोच-सोचकर

सन्तोष व्याकुल हो रहा था, हृदय की अदम्य इच्छा हृदय में ही घूम-घूम कर रह जाती थी। उस इच्छा को वह किसी प्रकार भी नहीं रोक पाता था। उसके लिए आज शय्या कण्टक के समान हो उठी थी। वह बन्द कमरे के भीतर इधर-उधर टहलने लगा।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

भाग्य का खेल

असी और वरुणा के संगम पर स्नान के लिए आकर वासन्ती ने देखा कि असीश्वरनाथ महादेव के मन्दिर से जरा ही दूरी पर एक बेल के पेड़ के नीचे बहुत-से आदमी एकत्र हैं। स्नान से निवृत्त होने पर वह हरिनाथ बाबू से पूछने लगी कि मामा जी, यहाँ भीड़ क्यों लगी है?

हरिनाथ बाबू ने कहा—यहाँ एक साधु रहते हैं। वे बहुत बड़े ज्योतिषी हैं। तीनों कालों का फल इतना प्रामाणिकता के साथ कहते हैं कि अक्षर-अक्षर घट जाता है। इसी लिए बहुत-से लोग अपना भविष्य जानने के विचार से उनके पास आये हैं। सुनने में आया है कि उनके पास प्रतिदिन इसी प्रकार की भीड़ एकत्र होती है।

ताई जी और चमेली भी समीप ही खड़ी थीं। चमेली ने यह सुनकर कहा—भाभी, चलो न भाई, एक बार हाथ दिखा आवें।

चमेली का उद्देश्य था, किसी प्रकार वासन्ती को उनके पास ले जाना। परन्तु वासन्ती के स्वभाव से वह खूब परिचित थी। वह समझती थी कि उनके सम्बन्ध में यदि कुछ पूछने को मैं कहूँगी तो वे किसी प्रकार जाने को तैयार न होंगी, इससे अपने ही बहाने से उन्हें ले चलूँ। चमेली की बात पर वासन्ती को कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती थी। सुषमा इस तीर्थयात्रा में नहीं सम्मिलित हो सकी थी। लड़कपन की अपनी एक सखी की बीमारी का हाल पाकर वह गिरिडीह चली गई थी।

चमेली के प्रस्ताव के अनुसार वासन्ती सबको साथ लेकर संन्यासी

जी की ओर चली। सीढ़ी से ऊपर चढ़कर जरा देर में ही वे सब उनके समीप पहुँच गये। भीड़ बहुत अधिक थी, अतएव दूर ही एक स्थान पर वे खड़े रहे। बड़ी देर में भीड़ ठेलकर हरिनाथ बाबू ने ज़रा-सी जगह कर ली, तब उन तीनों स्त्रियों को ले जाकर वहाँ बैठाया। वे स्वयं उन सबके पीछे खड़े रहे।

संन्यासी जी के समीप पहुँचने पर उन सबने पहले-पहल उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया, बाद को शान्तभाव से बैठ गये। संन्यासी जी उस समय पूजा पर बैठे थे। कुछ समय के बाद जब उनकी पूजा समाप्त हुई तब कहने लगे—भाग्य-फल जानकर क्या करोगी बेटी? विधाता ने जो कुछ लिख दिया है उसे कोई नहीं मेट सकता!

चमेली ने वासन्ती का हाथ पकड़कर संन्यासी जी से कहा—यह तो ठीक है महाराज, परन्तु आप ज़रा-सा कष्ट करके देख दीजिए। आपका नाम सुनकर हम लोग यहाँ बड़ी उत्सुकता से आये हैं।

संन्यासी जी ने हँसकर कहा—अदृष्ट में जो कुछ है वह होगा ही। सुनने से केवल कष्ट ही तो होता है, बेटी।

संन्यासी जी की इस बात से चमेली का आग्रह दूर नहीं हुआ। तब वे वासन्ती के हाथ की रेखायें ध्यानपूर्वक देखने लगे। उन्होंने क्षण भर के बाद क़ाग़ज़ पर कुछ लिख लिया और रमल फेंक कर कहने लगे—बिटिया, शनि की दशा में तुम्हारा जन्म हुआ है, इसी लिए छुटपन से ही माता-पिता से हीन होकर तरह-तरह के दुःख-क्लेश सहन करते-करते तुम बड़ी हुई हो। बीच के कुछ वर्ष अच्छे जान पड़ते हैं। उसी समय तुम्हारा विवाह हुआ है। परन्तु बिटिया, तुम्हारे जन्म के सप्तम स्थान में रवि हैं, इससे तुम पति के द्वारा परित्यक्त होओगी, यह हमारी गणना से जान पड़ता है। जन्मकाल में बुध उच्च स्थान में थे, इसलिए बिटिया, तुम अतुल ऐश्वर्य की अधिकारिणी होओगी। शनि और रवि तुम्हें जीवन में बहुत क्लेश देंगे।

संन्यासी जी की यह बात सुनकर नाईं जी ने कहा—महाराज, क्या उसका कोई प्रतीकार नहीं है ?

"है क्यों नहीं माता जी ? परन्तु सब लोग उस पर विश्वास नहीं करते। लोग कहते हैं कि कर्म में जो कुछ लिखा है वह होगा ही। परन्तु हम लोग पूजा-पाठ से ग्रह-दोष बहुत कुछ शान्त कर देते हैं।"

चमेली ने कहा—अच्छा महाराज, क्या इनके स्वामी सदा इन्हें त्याग ही रक्खेंगे ? जीवन में कभी उनका और इनका मिलन न होगा ?

"बिटिया, आज समय बहुत कम है। आप लोग परसों प्रातःकाल आयें। तब मैं सब बतला दूँगा।"

साँझ को विश्वनाथ जी के मन्दिर में आरती देखने के लिए बहुत अधिक भीड़ हो गई थी। मन्दिर के द्वार पर अगणित नर-नारी हाथ जोड़े खड़े थे। उन सबका उस समय का वेदनाक्लिष्ट मुखमण्डल देख-कर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे लोग आज जीवन भर का दुःख-क्लेश और पीड़ा विश्वपति के चरणों में अर्पित करने के लिए आये हैं।

वासन्ती के मामा हरिनाथ बाबू ने पैसा देकर दोपहर होने से पहले ही मन्दिर के द्वार के सामने स्थान प्राप्त कर लिया था। साँझ को सबको लेकर वे दर्शन के लिए उपस्थित हुए। आरती आरम्भ हुई। वासन्ती हाथ जोड़ कर बहुत ही गम्भीर भाव से देवदेव के सामने खड़ी थी। वह चित्त को एकाग्र करके विश्वनाथ की आरती और उनका साज-शृंगार देख रही थी। विश्वनाथ की मूर्ति के सामन खड़ी होने पर भाव-विह्वल होकर वासन्ती मन ही मन कहने लगी—हे देवदेव, तुमने अपने बनाये हुए इस विश्व में इतने शोक-दुःख और विरह की सृष्टि क्यों की है ? तुम्हारे इस विशाल विश्व में कितन सौ ऐसी नारियाँ है जो पति से परित्यक्त होकर अहर्निश प्रियजन के विरह-ताप की यन्त्रणा सहन करती हुई संसार-पथ में विचरण कर रही हैं ? उनकी इस वेदना का अनुभव करके सान्त्वना का एक वाक्य कहनेवाला भी कोई नहीं है। क्या इन असहाय नारियों के कातर

कण्ठ का हृदय-विदारक हाहाकार तुम्हारे सिंहासन को कम्पित नहीं कर सकता? यह जो इस दुर्भागिनी को ऐश्वर्य के सर्वोच्च शिखर पर बैठाकर तुमने राजरानी बना दिया है, इसके लिए इस धन-विभव की क्या उपयोगिता है? यह जो इस तरह का अत्यन्त असहाय जीवन व्यतीत कर रही है, इसके बदले में तो यह आजन्म दरिद्र रहने में भी किसी प्रकार के क्लेश का अनुभव न करती। समस्त दिन में यदि एक बार भी इसे प्रियतम का मुख देखने को मिल जाता, यदि इसे इस प्रकार अपने जीवन-धन के दर्शन के लिए तरसने की आवश्यकता न पड़ती, तो यह दरिद्र रहकर भी अपने को कृतार्थ ही समझती।

वासन्ती उस समय बहुत ही अधीर थी। उसे मानों सारी मनोव्यथा देवदेव के चरणों में अर्पित करनी थी। वह मन ही मन कहने लगी——हे प्रभु, इस हतभागिनी को तो इतना जानने का भी अवसर न मिल सका कि किस अपराध के कारण यह उनके स्नेह से वंचित हुई है! कितनी विशाल चिन्ता की ज्वाला में यह इतने वर्ष से जलती आ रही है! इस अत्यन्त भयंकर विरह-रूपी चिता में आज से छः वर्ष पहले जो आग जली थी, वह आज भी वैसी की वैसी ही धधक रही है। जिस समय में इस धराधाम में अवतीर्ण हुई हूँ, उस समय से लेकर बराबर ही तो मैं दुःख-दरिद्रता की ठोकर सहती चली आ रही हूँ। दुःख ही सहन करते-करते मेरा आधा जीवन व्यतीत हो गया, किन्तु मेरे इस दुःख का भार जरा भी हलका न हुआ। तो क्या अन्तिम जीवन में भी इस दुःख का भार वहन करनेवाला साथी मैं न खोज पाऊँगी?

वासन्ती विश्वनाथ के द्वार पर खड़ी होकर एकाग्र हृदय से अपनी सारी वेदना देवता के चरणों में अर्पित कर रही थी। इतने में अकस्मात् किसी के हाथ के स्पर्श से वह चौंक पड़ी। दृष्टि फेरकर उसके देखते ही चमेली ने कहा——भाभी, मामा जी बुला रहे हैं। वे कहते हैं कि जरा ही देर में यहाँ भीड़ बहुत अधिक हो जायगी, इसलिए यहाँ

से अब चलना चाहिए। वासन्ती उस समय सोच रही थीं, मैं कहां जाऊँ, मेरा घर कहाँ है, क्या घर कहने योग्य कोई वस्तु मेरे पास है, मैं तो केवल कल्पित संसार में निवास करके मूकराज्य का अभिनय करती जा रही हूँ।

विश्वनाथ के मन्दिर से चलकर वे लोग जैसे ही स्थान पर पहुँचे, एक नौकर ने एक तार लाकर वासन्ती के हाथ पर रख दिया। वासन्ती ने उतावली के साथ उसे खोलकर पढ़ा। चमेली ने देखा तो उसका मुँह बहुत ही गम्भीर हो उठा था और आँखों में आँसू भर आये थे। यह देखकर चमेली बहुत उत्कंठित हो उठी। उसने व्यग्रभाव से पूछा—किसका तार है भाभी? सब कुशल तो है? कहीं बच्चा की तबीअत तो नहीं खराब हो गई? माता का हृदय सन्तान के अशुभ की आशङ्का से शङ्कित हो उठा। बच्चा ही तो उसके निराश जीवन का एकमात्र अवलंबन था।

चमेली के मुखमण्डल पर शङ्का की रेखा देखकर वासन्ती ने कहा—सभी लोग अच्छे हैं। केवल बुआ जी की तबीअत बहुत खराब हो गई है। विनय बाबू ने लिखा है कि तुरन्त चली आओ।

माता की रुग्णावस्था का हाल सुनकर चमेली उद्विग्न हो उठी। व्याकुल दृष्टि से वासन्ती की ओर ताक कर उसने पूछा—कौन-सा रोग है, यह क्या कुछ लिखा है?

वासन्ती ने कहा—हाँ लिखा है। उन्हें मियादी बुखार हो आया है। वे हम लोगों को देखना चाहती हैं।

ताई जी ने कहा—क्या इस समय कोई गाड़ी न मिल सकेगी? यदि गाड़ी का समय हो तो इसी समय चल देना चाहिए। भगवान् जाने, मेरे भाग्य में अभी और क्या-क्या बदा है? वे दुःखी होकर रोने लगीं।

ताई जी को सान्त्वना देती हुई वासन्ती कहने लगी—क्या कोई बीमार ही नहीं होता? इसमें घबराने की कौन-सी बात है? चार-छः दिन में वे अच्छी हो जायँगी। वहाँ बहू के सिवा और कोई है नहीं,

इससे सेवा-शुश्रूषा भी ठीक-ठीक न हो पाती होगी, इसी से उन्हें कष्ट अधिक होता होगा। शायद इसी लिए उन्होंने हम लोगों को बुलवाया है। बेचारी बहू लड़की ही तो ठहरी। उससे अकेले कैसे निभ सकता है?

ज़रा देर के बाद वासन्ती ने फिर कहा——दीदी, मैं क्या करूँगी?

चमेली ने कहा——क्यों? तुम भी चलना।

चमेली के मुँह की ओर ताकती हुई वासन्ती बोली——कहीं फिर न कोई झमेला खड़ा हो जाय?

चमेली ने ज़रा-सा चकित-सी होकर कहा——हाँ, समझ गई। परन्तु इससे क्या हुआ? क्या वे इतने पागल हैं? मा बीमार हैं। तुम न चलोगी तो वे स्वयं और पिता जी अपने मन में क्या कहेंगे?

उस समय वासन्ती मन ही मन कह रही थी, यह कौन-सा खेल तुमने आरम्भ कर दिया दयामय? इस खेल के सिलसिले में तुम मुझे कहाँ ले जाना चाहते हो? यह कितना निष्ठुर परिहास है? नहीं, नहीं, मैं कहाँ जाऊँगी? क्या मेरे वहाँ जाने का उपाय है? नहीं, यह नहीं होने का। मैं न जाऊँगी।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

वासन्ती की दुर्बलता

वासन्ती आदि जिस गाड़ी से काशी से रवाना हुई थीं वह इलाहाबाद स्टेशन पर आकर खड़ी हुई। वासन्ती तुरन्त ही व्याकुलभाव से चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगी। पता नहीं, वह उस समय किसे खोज रही थी? इतने में दूर से ही उसने विनय को देखा, तब उसका चित्त स्थिर हुआ। विनय क्रमशः उसके डिब्बे के पास पहुँचा। उसे देखते ही सब लोग व्याकुलभाव से उसकी माँ का हाल पूछने लगे।

विनय का कण्ठ सूख गया था। धीमी आवाज से वह कहने लगा—आज सात-आठ दिन से उन्हें ज्वर आ रहा है। वे अच्छी तरह बोल नहीं सकतीं। इससे पिता जी बहुत व्यग्र हो उठे हैं। अब चलिए, विलम्ब करना ठीक नहीं है।

वासन्ती गाड़ी में बैठी-बैठी सोच रही थी कि इतने सुदीर्घ काल तक जिसके लिए व्यग्रभाव से प्रतीक्षा कर रही थी, अत्यन्त उत्कण्ठा होने पर भी क्षणमात्र के लिए भी जिसके दर्शन का सौभाग्य नहीं मिल सका, आज वही चिर आकांक्षित मिलन किस तरह अनायास ही हो गया। मैं यहाँ चली ही क्यों आई? जिसे सङ्ग में रखने की अनिच्छा प्रकट करके वे इतने दिनों तक अपने को छिपाये मारे-मारे फिरते रहे, उसके इस प्रकार चले आने के कारण वे कहीं फिर न आश्रय हीन हो जायँ। क्षण भर की दुर्बलता के कारण मैंने यह क्या कर डाला? लज्जा तथा घृणा के अत्यन्त प्रबल आवेग के कारण वासन्ती का श्वास मानो रुँधा-सा जा रहा था। उसके क्षुब्ध हृदय में पागल हवा के झकोरे चल चलकर मानो सारे शरीर को हिलाये डालते थे। श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी मानो उसे भूलती जा रही थी।

गाड़ी आकर द्वार पर लगी। विनय उस पर से उतर कर नौकरों को बुलाने तथा सामान आदि उतारने की आज्ञा देने लगा। उसकी आवाज़ सुनकर वह चौंक पड़ी। घूँघट से मुँह छिपाकर वह गाड़ी पर से उतरी। अनिच्छा होने पर भी वह लड़खड़ाते हुए चरणों से भीतर की ओर चली।

बुआ जी को देख आने के बाद सब लोग स्नान के लिए गये। सन्तोष उनकी शय्या के पास ही बैठा था। उसकी धारणा थी कि वासन्ती कभी न आवेगी। वह सोचने लगा कि सुषमा उसे लेकर जब कलकत्ता गई थी तब मैंने उसका क्या-क्या अपमान नहीं किया, कौन कौन-सी अकथ्य बातें नहीं कहीं, विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि उसका कोई दोष नहीं था। क्या वह सारा अपमान, सारी लाञ्छना भूल गई होगी? वही लाञ्छित नारीत्व की व्यथा लेकर वासन्ती क्या उसी निष्ठुर प्रतारक के समीप फिर आयेगी? परन्तु सामने आकर जब वह खड़ी हो गई और पति के द्वारा परित्यक्त होने पर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं हुई तब उस धैर्य्यशालिनी वासन्ती के प्रति श्रद्धा से उसका हृदय परिपूर्ण हो उठा।

वासन्ती के आ जाने पर सभी लोगों के हृदय में भय का सञ्चार हुआ था। वासन्ती भी भयभीत न हुई हो, यह बात नहीं थी। फूफा जी ने भी सोचा कि कहीं यह लौंडा फिर न भाग जाय। परन्तु वासन्ती के आने-जाने पर भी सन्तोष के कार्य-क्रम में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ। वह जिस प्रकार बुआ जी की शय्या के पास बैठा करता था, रात-रात भर जागता रह जाता था और समय-समय पर बाहर जाया करता था, उसी प्रकार वह सारा काम-काज करता रहा। वासन्ती के आ जाने के कारण उसने किसी प्रकार का संकोच या द्वैविध्य का भाव नहीं प्रकट होने दिया। सन्तोष का इस प्रकार का अविचलित भाव देखकर वासन्ती तथा घर के और सब लोगों ने शान्ति की साँस ली।

सन्तोष ने उन दिनों इलाहाबाद में चिकित्सा का व्यवसाय आरम्भ कर दिया था। इतने ही अल्प काल में उसकी प्रतिपत्ति भी काफ़ी हो गई थी। बीच में एक बार बुआ जी के समीप उसने एक स्वतन्त्र मकान ले लेने का भी प्रस्ताव किया था। परन्तु स्नेहमयी बुआ जी और फूफा जी को इसमें आपत्ति देखकर उसने वह बात फिर कभी नहीं छेड़ी।

वासन्ती बहुत ही सेवापरायण थी। साथ ही किसी भी अवस्था-विशेष में वह प्रायः हर्ष-विषाद या क्लान्ति का अनुभव नहीं करती थी। इस कारण उसने भी बुआ जी की शय्या के पास ज़रा-सा स्थान प्राप्त कर लिया था। अधिकांश समय वह बुआ जी की शय्या के पास ही व्यतीत किया करती थी। उसके वहाँ पर सदा वर्त्तमान रहने का एक कारण और था। और लोगों की अपेक्षा रोगिणी की परिचर्या वासन्ती कहीं उत्तम ढङ्ग से कर लेती थी। रोगिणी की वह बहुत ही निपुणता के साथ और ठीक समय पर सेवा किया करती थी, साथ ही उसके हृदय में घर के और लोगों की अपेक्षा धैर्य और स्थिरता भी कहीं अधिक थी, वह निरलसभाव से हर प्रकार का सेवा-यत्न करती रहती। रात-रात भर जागती रह जाती, परन्तु कभी किसी ने लेश-मात्र भी क्लान्ति की रेखा उसके मुखमण्डल पर नहीं देखी। वह स्वयं भी क्लान्ति या तन्द्रा का अनुभव नहीं किया करती थी।

डाक्टर के निषेध के कारण रोगिणी के कमरे में अधिक लोग नहीं रहते थे। सन्तोष और विनय बारी-बारी से रात्रि में जागते रहते थे। बीच-बीच में चमेली भी आकर बैठती थी। डाक्टर के परामर्श के अनुसार लोग रोगिणी को खूब सावधानी के साथ रख रहे थे। रोग का प्रकोप क्रमशः बढ़ता ही जा रहा था, इससे सभी लोगों के मुखमण्डल पर आशङ्का की रेखा सदा ही उदित रहती थी। घर-गृहस्थी का सारा भार ताई जी ने अपने ऊपर ले रक्खा था। सन्तोष की अनुपस्थिति में सुजाता भी कभी कभी सास को देख आया करती, परन्तु अधिक समय तक वह उनके पास नहीं रह पाती थी।

बुआ जी की रुग्णता के कारण वासन्ती बहुत ही चिन्तित हो उठी थी। श्वशुर की मृत्यु हो जाने पर उसने बुआ जी तथा फूफा जी को ही अपना अभिभावक समझ रक्खा था। इन लोगों ने वासन्ती को वसु-महोदय के अभाव का अनुभव करने का अवसर कभी नहीं दिया। वह सोचने लगी कि यदि कहीं इन स्नेहमयी तथा करुणा-रूपिणी बुआ जी ने भी सुरधाम की राह ले ली तो फिर मुझे कितनी लाञ्छना, कितना तिरस्कार सहन करना पड़ेगा। उनकी मृत्यु की कल्पना करके वह अपने आपको अत्यन्त ही असहाय समझ रही थी।

सन्तोष और विनय बैठे भोजन कर रहे थे। सामने ही ताई जी भी बैठी थीं। चमेली बीच-बीच में एक-एक चीज़ परोस रही थी। इतने में सन्तोष ने कहा—ताई जी, रोती क्यों हैं ? मेरी बात पर विश्वास कीजिए, मैं ठीक कह रहा हूँ, बुआ जी अच्छी हो जायँगी।

सन्तोष की बात सुनकर नेत्रों का जल पोंछते पोंछते ताई जी कहने लगीं—तुम लोग भी मुझसे ठीक बात बतलाओगे ? मेरे अदृष्ट में और भी क्या-क्या लिखा है, यह कौन जाने ? मृत्यु तो मेरे लिए है नहीं, केवल यन्त्रणा ही पा रही हूँ। आज प्रायः एक मास मुझे यहाँ आये बीत चला, एक बार भी बोल नहीं सकीं।

विनय ने कहा—बहुत निर्बल हो गई हैं न। साथ ही दिमाग़ भी कुछ खराब हो गया है। इसी लिए वे बोल नहीं सकतीं। आज सवेरे भैया और डाक्टर साहब कह रहे थे कि यदि और किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो गया तो आठ-दस दिन के भीतर ही मा का कण्ठ खुल जायगा।

ताई जी ने कहा—बड़ी अच्छी बात है बेटा। भगवान् करें, यह बात सत्य निकले। मैं अपनी ननद के मुँह की बात सुनते ही देश जाकर विशेष रूप से राधा-वल्लभ की पूजा करूँगी। मेरे भाग्य में क्या वह दिन भी कभी आवेगा और मैं—

ताई जी की बात समाप्त होने से पहले ही चमेली ने आकर कहा——मामी जी, क्या भाभी को बुलाऊँ ? वे ज़रा-सा लेट गई हैं।

ताई जी ने कहा——सारी रात जागते-जागते मेरी बच्ची नींद में आ गई होगी। परन्तु देर हो जाने पर तो भोजन बिलकुल ठंडा हो जायगा। इसके सिवा उसने कुछ खाया भी तो नहीं है। बुला लाओ, बल्कि खाकर फिर सो जायगी।

विनय ने कहा——नहीं, नहीं, उठाना नहीं। आज शायद वे बहुत अधिक थक गई हैं, इसी से लेट गई हैं। इतने दिन उन्हें यहाँ आये हो गये, मैंने तो उन्हें एक बार भी लेटते नहीं देखा। वास्तव में रात्रि में इतना अधिक जागनेवाला मुझे और कोई भी नहीं मिला।

विनय की ओर ताकती हुई चमेली कहने लगी——देखो भैया, मा यदि इस बार बच गई तो भाभी की सेवा और यत्न की ही बदौलत बचेंगी। रोगी के प्रति इस प्रकार की सावधानी करते तो मैंने और किसी भी स्त्री को नहीं देखा। इतना तो भाई हम लोगों से नहीं हो सकता।

ज़रा-सा हँसकर सन्तोष ने कहा——ठीक कहती हो, चमेली। तब तो हम लोगों की जो इतनी दवाइयाँ खिलाई जा रही हैं वे सब निरर्थक ही हैं। यश भी बड़े भाग्य से मिलता है भाई! इसी को तो भाग्य कहते हैं। ठीक है न विनय?

विनय ने कहा——हाँ भैया, यदि सच बात पूछो तो मैं भी भाभी की ही तरफ़ होऊँगा। दवा की उपयोगिता अवश्य है, किन्तु रोगी बहुधा शुश्रूषा के ही बल पर आरोग्य-लाभ करता है। वे डाक्टर की स्त्री हैं, यह उनकी सेवा देखकर ही ज्ञात होता है। आप ही देखिए, भाभी जब तक नहीं आई थीं तब तक आपको कितनी चिन्ता करनी पड़ती थी, किन्तु अब तो——

सन्तोष ने कहा——ठीक है भाई, तुम लोगों का दल बड़ा है, मैं तो अकेला हूँ।

———

अट्ठाइसवाँ परिच्छेद

मुझे मार्ग में कौन खोजता है ?

वासन्ती को इलाहाबाद आये एक मास व्यतीत हो गया। तब से रोगिणी की परिचर्य्या में उसने अपने आपको तल्लीन कर दिया था। यदि कोई उससे विश्राम करने को कहता तो वह कह देती कि अभी कोई आवश्यकता नहीं है, नींद आते ही मैं सो जाऊँगी। परन्तु सच पूछिए तो वासन्ती को जरा भी आलस्य नहीं आता था, इसलिए वह सबसे अनुरोध करती कि मुझे इसी में आराम मिलता है। मुझे विश्राम की आवश्यकता नहीं है। मेरी एकमात्र यही कामना है कि बुआ जी किसी प्रकार आरोग्य हो जायँ। तभी मैं शान्तिपूर्वक विश्राम कर सकूँगी।

वासन्ती के मन में आता कि कहीं क्षण भर की असावधानी के कारण बुआ जी का रोग बढ़ न जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया तो कुछ भी करते न बन पड़ेगा। मुँह से वह किसी से कुछ कहती नहीं थी अवश्य, किन्तु उसके हृदय में यह चिन्ता सदा ही वर्त्तमान रहती कि बुआ जी के इस संसार से विदा हो जाने पर मेरी क्या दशा होगी, यह स्वार्थ-चिन्ता हृदय से वह किसी प्रकार भी नहीं दूर कर पाती थी।

इतने दिन से वासन्ती बुआ जी की बीमारी के बढ़ने का ही हाल सुनती आ रही थी, इससे उसकी विकलता बराबर बढ़ती ही गई। आज पहला दिन था जब उसने विनय के मुँह से उनकी तबीअत के कुछ सुधरने का हाल सुना। विनय कह रहा था—आज भैया जी और डाक्टर साहब ने मिल कर यह स्थिर किया है कि मा की

तबीअत कुछ सुधरी है। विनय की इस बात से वासन्ती ने बहुत कुछ धैर्य-लाभ किया।

रात्रि क्रमशः अधिक व्यतीत हो चली। चमेली वासन्ती से सोने के लिए बार-बार अनुरोध कर रही थी। इधर आज बुआ जी की तबीअत के कुछ सुधरने की भी बात उसने सुनी थी, इससे चमेली को सब समझा-बुझा कर वह सो गई थी। इसी बीच में बुआ जी को देखने के लिए सन्तोष आया। उसके वहाँ आकर बैठते ही चमेली चली गई। रोगिणी के कमरे में सन्तोष के आ जाने पर चमेली प्रायः वहाँ से चली जाया करती थी, विशेषतः ऐसे समय में जब उस कमरे में वासन्ती भी रहती थी। वह सोचा करती कि शायद उन्हें देखकर भैया की तबीअत कुछ बदल जाय। इसी लिए वह उस कमरे से हट जाने में इतनी सावधान रहती थी।

वासन्ती का साथ मिल जाने पर सन्तोष के हृदय में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ, यह बात नहीं थी। परन्तु हृदय की इस क्षणिक दुर्बलता पर वह प्रबल भाव से शासन कर रखता था। परन्तु वासन्ती के यहाँ आ जाने के बाद से ही सन्तोष के मन और शरीर में बराबर द्वन्द्व मचा रहता था, इससे वह बहुत अधिक क्लान्ति का अनुभव करने लगा था। पता नहीं क्यों, उसके मन में रह-रह कर यही बात आया करती थी कि क्या वासन्ती मुझे प्यार करती है? परन्तु यह कैसे सम्भव है? वह मुझे क्यों प्यार करने लगी? मेरे चित्त की भी यह क्या दशा हो गई? आज कितने मास से मैं बराबर वासन्ती की ही चिन्ता में रहता हूँ। उसी के सम्बन्ध की तरह-तरह की बातें सोचता रहता हूँ। पता नहीं, उसका स्मरण करके आज मैं इतने सुख का अनुभव क्यों करता हूँ। दीन भिक्षुक के समान मेरा हृदय आज उसकी कृपा के लिए प्रार्थना कर रहा है। परन्तु वासन्ती में तो कोई भी परिवर्त्तन मैं नही देख पाता हूँ। उसमें इस प्रकार

का असङ्कोच और द्विधाहीन निर्विकार भाव देखकर सन्तोष बड़े आश्चर्य में पड़ता जा रहा था।

सन्तोष सोच रहा था कि वासन्ती संसार के इस विषम पथ पर किस प्रकार इतनी स्थिरता के साथ चल रही है। एक क्षुद्र तरुणी के क्षुद्र हृदय में ऐसी कौन-सी शक्ति निहित है जिसके कारण वह अपने आपको इस प्रकार सञ्चालित करती फिर रही है। वासन्ती की उदासीनता मानो सन्तोष को और भी दुःखी कर रही थी। सन्तोष ने इतने दिनों तक इस प्रकार के अहङ्कार को अपने में स्थान दे रखा था कि मैं स्वयं वासन्ती से कभी प्रेम नहीं कर सकूँगा या उसे पत्नी के रूप में नहीं ग्रहण कर सकूँगा। आज उसी की उपेक्षा देखकर सन्तोष का हृदय वेदना से परिपूर्ण हो उठना क्यों चाहता है?

अकस्मात् सन्तोष के अबाध्य नेत्र वासन्ती के मुखमण्डल पर जम गये। लाख प्रयत्न करके भी वह उन्हें लौटालने में समर्थ न हो सका। सन्तोष ने देखा कि वासन्ती के मुखमण्डल पर बत्ती का उज्ज्वल प्रकाश पड़कर उसे मानो अलौकिक सौन्दर्य से मण्डित किये हुए है, यद्यपि उस समय वह निरन्तर रोगिणी की सेवा में लगी रहने के कारण बहुत क्लान्त हो गई है। सन्तोष के तृषित नेत्र उस दिन वासन्ती के मुखमण्डल पर से हटना नहीं चाहते थे। उसके हृदय में रह-रहकर यही बात आती कि किस प्रकार के प्रयत्न से मनुष्य इस प्रकार निर्विकार-चित्त हो सकता है।

सन्तोष को वासन्ती की इस प्रकार की गम्भीरता तथा उसके हृदय की विशालता एवं उदारता के कारण बड़ा आश्चर्य हो रहा था। वह सोचने लगा कि इसके हृदय में इस प्रकार की उदारता किसने उत्पन्न की है? क्या मेरा हृदयहीन अत्याचार ही इसकी उत्पत्ति का कारण है? सन्तोष एक बात पर और विचार कर रहा था। वह सोच रहा था कि वासन्ती ने सभी के बीच में तो अपने आपको विलीन

कर दिया है। किसी के प्रति वह ज़रा भी इस प्रकार का भाव नहीं प्रकट होने देती कि उसे भी अपने मान-अपमान या सुख-दुख का कुछ ध्यान है। आखिर वह मेरे ही प्रति क्यों इस प्रकार निर्मम है? उसके प्रति मैंने जो अनुदारता का व्यवहार किया है उसे वह अपनी क्षमाशीलता के कारण क्यों नहीं भूल जाती? क्या मैं उसकी कृपा का अधिकारी नहीं हो सकता?

बुआ जी की सेवा-शुश्रूषा के लिए महीना भर वासन्ती ने जो अथक परिश्रम किया था और जिस प्रकार की सावधानी के साथ उसने उनकी परिचर्य्या की थी, उसे देखकर सन्तोष स्वयं भी बहुत विस्मित हो गया था। वह सोच रहा था कि डाक्टर होने से ही क्या होता है? मैं भी तो एक डाक्टर हूँ। परन्तु वासन्ती ने बुआ जी की परिचर्य्या में जिस प्रकार की कुशलता प्रदर्शित की है उस प्रकार की कुशलता शायद मेरे लिए सम्भव नहीं थी। बैठे-बैठे सन्तोष वासन्ती की उस समय की मूर्त्ति का ध्यान करने लगा जब निस्तब्ध और गम्भीर रात्रि में वह बुआ जी की रोग-शय्या के पास बैठे ही बैठे निद्रित हो जाता और वासन्ती के दोनों ही नेत्र अर्द्धरात्रि के दो नक्षत्रों के समान बुआ जी के मुख पर स्थापित रहते। उसके दोनों हाथ भी रोगिणी के वेदना से व्यथित विभिन्न अङ्गों का सन्ताप दूर करने के लिए सदा ही व्यग्र रहते। बीच में सन्तोष की आँख जब खुल जाती तब वह वासन्ती की आलस्यहीन सेवा-परायणता तथा आडम्बरहीन और निःसंकोच व्यवहार देखकर दङ्ग रह जाता। वासन्ती के ऊपरी व्यवहारों से जैसे ही जैसे वह परिचित होता जाता उसके अन्तःकरण से परिचित होने के लिए उसका व्याकुल हृदय वैसा ही अधिकता के साथ उत्कंठित होता गया।

सन्तोष वासन्ती के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें गम्भीर भाव से सोच रहा था। इतने में वासन्ती करवट बदलकर सोने लगी। उसके मस्तक के पास ही एक टेबिल के ऊपर ओषधियों की शीशियाँ

तथा परिचर्य्या-सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुएँ सजाकर रक्खी हुई थीं। वासन्ती यदि जरा-सा ही हिलती-डोलती और टेबिल के पाये में उसके मस्तक का धक्का लग जाता तो सारी चीजें गिर कर टूट जातीं और वासन्ती को भी चोट आ जाती। इससे सन्तोष ने सोचा कि वासन्ती का मस्तक उठाकर एक बग़ल कर दूँ। परन्तु बाद को उसने अपना विचार परिवर्तित कर दिया। वह मन ही मन कहने लगा—होगा। मुझे क्या करना है? अधिक समय तक उसका यह विचार भी स्थायी न हो सका। क्षण ही भर के बाद उसके जी में आया कि मेरा सारा अहङ्कार तो चूर्ण हो चुका है, दूसरी बात सोचना व्यर्थ है। अब जरा भी आना-कानी न करके सन्तोष उठा। वासन्ती के उचित स्थान से हटे हुए मस्तक को उठाकर उसने तकिया पर रख दिया। मस्तक में सन्तोष के हाथ लगाते ही वासन्ती की निद्रा भङ्ग हो गई। उसने आँख खोलकर जब देखा तब सन्तोष उसके मस्तक के पास बैठा था। उसने यह भी देखा कि सन्तोष उसी के मस्तक की ओर विस्फारित नेत्रों से देख रहा है। उसकी दृष्टि से वासन्ती की दृष्टि जैसे ही टकराई, उसने अपनी दृष्टि पृथ्वी की ओर झुका ली।

वासन्ती भी चिन्ता में पड़ गई। सन्तोष उसके पास क्यों बैठा था और अनिमेष दृष्टि से उसकी ओर क्यों ताक रहा था, जागने पर यह बात किसी प्रकार भी वासन्ती की बुद्धि में न आ सकी। उसके हृदय में रह-रह कर केवल यही एक बात उदय होती, क्या यह सच है?

वासन्ती के हृदय में यही सब सङ्कल्प-विकल्प के भाव उदित हो होकर उसे आन्दोलित कर रहे थे। इधर उसके कान में सन्तोष का कण्ठ-स्वर ध्वनित होने लगा। उसने कहा—मस्तक टेबिल के पाये से टकरा रहा था, यह देखकर मैं उसे एक बग़ल कर रहा था। मैं नहीं जानता था कि इससे तुम्हारी निद्रा भंग हो जायगी।

कान में सन्तोष के ये शब्द पड़ने पर वासन्ती सोचने लगी कि इतने दिनों के बाद विधाता को यह क्या बेतुके ढङ्ग से मेरी खिल्लियाँ उड़ाने की सूझी है ! विश्व के रचयिता विधाता ने भी आड़ में छिपे रहकर यह कैसा निष्ठुर परिहास किया है ? इतने दिन के बाद इस अत्याचार-पीड़िता के प्रति यह प्रीति का निदर्शन कैसा ?

वासन्ती उसी स्थान पर स्थिर भाव से बैठी हुई इस परिवर्तित परिस्थिति पर विचार करती रही। सन्तोष के इस परिवर्तन का कोई अर्थ न समझ सकने के कारण वह बहुत ही अधीरता का अनुभव कर रही थी। सन्तोष के स्पर्श से उसका शरीर इस प्रकार स्पन्दित होकर अशक्त होता जा रहा था, मानो उसे बिजली का करेंट छू गया हो। समुद्र की उन्मत्त तरङ्गें जिस प्रकार तट के समीपवर्त्ती पत्थर के टुकड़ों पर टकरा-टकरा कर अपने आगमन का संवाद सुना जाती हैं, उसी प्रकार आज की इस घटना ने भी वासन्ती के हृदय के भीतर सोती हुई चित्तवृत्तियों को झकोरें दे-देकर जगा दिया। परन्तु क्यों आज ऐसा हुआ ? हृदय की इस प्रकार की व्याकुलता किसी प्रकार भी उसके रोके नहीं रुक पाती थी। पता नहीं, कैसे एक अदमनीय अभाव की व्यथा उसे निर्दय भाव से पीड़ित करने लगी, वह वहीं निस्तब्ध होकर बैठी रही।

उन्तीसवाँ परिच्छेद

प्रत्याख्यान

साँझ का समय था। अँधेरा फैल चुका था। सुषमा ने जो फुलवाड़ी सजा रक्खी थी उसी में बैठी हुई वह अपनी एक बाल्यकाल की सहचरी के साथ बातें कर रही थी। उसकी सखी मिस दास ने कहा—हाँ भाई, आज-कल तू इस तरह की कैसी होती जा रही है? ज़रा बतला तो। उस दिन अणिमा कह रही थी कि आज-कल सुषमा दीदी टेनिस खेलने प्रायः नहीं आतीं। पहले तो वे रात-दिन टेनिस खेलने की ही चिन्ता में रहा करती थीं। वे बराबर प्रतीक्षा करती रहती थीं कि कब समय आवे कि रैकट लेकर खेल के मैदान में पहुचें। हाँ सुषमा, सच तो है। भला आज-कल खेलने क्यों नहीं आतीं?

सुषमा ने कहा—आज-कल मैं इस आश्रम की ही चिन्ता में पड़ी रहती हूँ। कितनी जगहें देखी, परन्तु मन में एक भी नहीं जमी। आज-कल जगह खोजने में ही मेरा सारा समय व्यतीत हो जाता है।

"हाँ, अच्छी याद आ गई। सुषमा दीदी, तुमने आज-कल कितने झञ्झट मोल ले रक्खे हैं? यह सब क्या हो रहा है? क्या विवाह-बर न होगा?"

कुछ क्षण चुप रहने के बाद सुषमा ने कहा—विवाह शायद मेरे भाग्य में नहीं लिखा है।

मिस दास चकित हो गई। आश्चर्य में आकर उसने कहा—यह कैसी बात कह रही हो सुषमा दीदी? भला विवाह क्यों न करोगी?

ज़रा-सा हँसकर सुषमा ने कहा--कर तो सकती हूँ। परन्तु वर कहाँ है ?

"क्यों ? सुधा तो तुम्हारे साथ विवाह करने के लिए आया है। क्या वह तुम्हें पसन्द नहीं है ?"

सुषमा और मिस दास में ये बातें हो ही रही थीं कि अनादि बाबू भी टहलकर आ गये। आते ही उन्होंने कहा--सुषमा, तुम्हारी उस जगह का मोल-तोल मैं कर आया हूँ।

सुषमा ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा--जगह तय हो गई हो तो अब मकान बनवाना आरम्भ कर दीजिए बाबू जी। परन्तु आपको बड़ा कष्ट होगा। भैया जा ही रहे हैं। आप अकेले ही रह जाते हैं।

कन्या के मुँह की ओर ताकते हुए अनादि बाबू ने कहा--मुझे क्या कष्ट होगा बिटिया ? परन्तु यह सब तुझसे क्या सँभल सकेगा ? अनिल रहता तो वह बहुत कुछ तेरी सहायता कर सकता। वह तो परसों विलायत चला। हाँ रे सुषमा, सुधा और अनिल अभी तक घूमकर आये नहीं ?

सुषमा ने कहा--भैया वग़ैरह न जाने क्या क्या ख़रीदने गये हैं। और बाबू जी, आप जो अकेले की बात कह रहे हैं उसके लिए कोई चिन्ता नहीं है। मिसेज़ दास हैं। कभी कभी वासन्ती आ जाया करेगी। सब लोग मिल-जुल कर सँभाल लेंगी। इस प्रकार मुझे ज़रा भी कष्ट न होगा।

"इस तरह के कामों में बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है। तेरा शरीर उतना अच्छा नहीं है।"

पिता के चिन्तायुक्त मुँह की ओर ताकती हुई सुषमा ने धीर कण्ठ से कहा--आप चिन्ता न कीजिए बाबू जी। मैं सब ठीक कर लूँगी। ख़ाली हाथ अकेले बैठे बैठे जी नहीं लगता।

मिस दास ने सुषमा से कहा--आठ बज रहे हैं भाई। अब मैं

उठती हूँ। घर जाने से पहले ज़रा देर के लिए मुझे मिसज राय के यहाँ जाना होगा।

सुषमा फाटक तक आकर उसे पहुँचा गई।

मनुष्य के शरीर में हृदय नामक जो एक वस्तु है वह किसी प्रकार भी शून्य करके नहीं रक्खी जा सकती। हृदय की इस शून्यता को दूर करने के लिए सुषमा के कई आत्मीय थे। परन्तु इस प्रकार अकेले ही जीवन व्यतीत करते रहने के कारण उसका हृदय और मन सदा ही विक्षुब्ध-सा रहता था। उसके मन में बार बार यही बात आती कि नितान्त आत्मीय व्यक्ति के अपरिमित स्नेह का दान प्राप्त करके भी मैं हृदय की शून्यता को दूर करने में समर्थ न हो सकूँगी। यही कारण था कि हृदय की इस शून्यता को निकाल फेंकने के विचार से ही कोई न कोई उपाय खोजने के लिए वह व्यग्र हो उठी थी। यही कारण था कि उस दिन मिसेज दास ने जब एक आश्रम बनाने का आग्रह प्रकट किया तब वह तन-मन से उसी काम में लग गई।

पिता को अपना यह अभिप्राय सूचित किये उसे बहुत दिन हो गये थे। आज उसकी इतने दिनों की आशा सफलता की ओर अग्रसर हुई है, यह देखकर सुषमा अत्यधिक तृप्ति का अनुभव कर रही थी।

घूम-फिर कर लौटने के बाद आहार-आदि से निवृत्त होकर रात को नौ बजे सुधा और अनिल बैठक में बैठे। ज़रा देर के बाद अनिल पिता की खोज में बैठक से निकला। बरामदे में आते ही उसने देखा, उसके माता-पिता बैठे हैं। पिता की कुर्सी के पास ही एक कुर्सी खींचकर अनिल भी बैठ गया। उसने कहा—मैं आपसे एक बात कहने आया हूँ।

अनादि बाबू ने उत्कण्ठित होकर कहा—कौन-सी बात है बेटा?

अनिल ने धीमे स्वर से कहा—कोई वैसी बात नहीं है। सुधा का कल यहाँ से चले जाने का विचार है।

अनिल के माता-पिता एक साथ ही बोल उठे--क्यों?

अनिल ने कहा--पता नहीं, क्यों। वह कहता है कि सुषमा के साथ विवाह करना केवल उसे दुःख ही देना है। इससे तो कहीं अच्छा होगा कि वह जो कुछ चाहती है--

रुँधे हुए स्वर से अनादि बाबू ने कहा--क्यों? सुषमा ने क्या विवाह करना अस्वीकार कर दिया है? नहीं तो, इस सम्बन्ध में तो उसने कभी कुछ कहा ही नहीं। तो सुधा क्यों आपत्ति कर रहा है?

"नहीं, सुषमा ने कोई आपत्ति नहीं की। तो भी पता नहीं, वह क्यों कहता है कि शायद उसके यहाँ आने से सुषमा कुछ दुःखी-सी हो उठी है। उसका यह भी अनुमान है कि विवाह का प्रस्ताव करने पर सुषमा शायद अस्वीकार भी कर दे।

मन ही मन दुःखी होकर अनादि बाबू ने कहा--उसने जब कुछ कहा नहीं है तब एक बार उससे पूछ लेने में हानि ही क्या है?

संयत कण्ठ से अनिल ने कहा--यह बात मैंने भी सुधा से कही थी। परन्तु इस पर वह सहमत नहीं हुआ। उसका कहना है कि इस सम्बन्ध में सुषमा से आग्रह करके उसे सङ्कोच में डालना ठीक नहीं है। इससे वह उससे कुछ भी नहीं कहना चाहता है। कल उसका यहाँ से चले जाने का विचार है।

कुछ क्षण तक चुप रहने के बाद अनिल ने कहा--मेरा भी यही विचार है कि अभी आप उसके विवाह के लिए इतने चिन्तित न हों। कुछ दिनों तक उसे और ऐसी ही रहने दें। मैं तब तक विलायत से लौट आऊँगा। मैं तो जा ही रहा हूँ। सुषमा का भी यदि विवाह हो गया और वह अपने पति के यहाँ चली गई तो भला आप लोगों से इस घर में रहा जायगा?

सुषमा की माता ने कहा--यह तो ठीक कहते हो बेटा, परन्तु सुषमा के सुख के लिए हम लोग अपनी यह हानि भी सह लेने में

कष्ट का अनुभव नहीं कर रहे हैं, क्योंकि इस प्रकार वह सुखी तो होगी। उसे इसी अवस्था में छोड़कर आज यदि हम मर जायँ तो भला उसकी क्या दशा होगी बेटा ?

अनिल ने कहा—यह तो मैं भी समझता हूँ। किन्तु यदि सुषमा को सचमुच विवाह करना स्वीकार नहीं है तो ज़ोर देकर विवाह कर देने में क्या वह सुखी हो सकेगी ? मेरी तो धारणा है कि इससे उसके दुःख की ही वृद्धि होगी, उसके सुखी होने की तो इसमें कोई बात ही नहीं है।

कुछ क्षण तक मौन रहने के बाद अनादि बाबू ने कहा—तो यही सही बेटा। सुधा यदि कहता है कि इस समय विवाह के सम्बन्ध में कोई बात करने की आवश्यकता नहीं है तो मैं भी यही मान लेता हूँ। तब तक तू भी विलायत से लौट आ। बाद को जो कुछ होगा, होता रहेगा।

अनिल उठकर खड़ा हो गया। वह कहने लगा कि सुधा से मैं एक बार फिर इस सम्बन्ध में बातें करूँगा। उससे पूछूँगा कि सुषमा से बातें कर लेने में उसे आपत्ति क्यों है। यह कहकर वह अपने सोने के कमरे में चला गया।

तीसवाँ परिच्छेद

विलायत-यात्रा

बम्बई के ताजमहल होटल के एक कमरे में चार प्राणी बैठे थे। वे चारों ही नीरव थे, किसी के मुँह से कोई बात नहीं निकल रही थी। कमरे में पूर्ण निस्तब्धता थी।

सामने अरब-सागर की उन्मत्त अशान्त जल-राशि नाच-नाच कर कल्लोल कर रही थी। जहाँ तक दृष्टि पहुँचती, केवल असीम अनन्त जल-राशि ही दिखाई पड़ती। जान पड़ता कि समुद्र की यह नील जल-राशि दिग्दिगन्त में विस्तृत होकर आकाश से मिल गई है। उस समय एक विराट् निस्तब्धता मानो दिग्दिगन्त में विस्तृत थी।

मनोरमा सोच रही थी कि मेरा प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र मेरी ही स्नेहमय गोद से बिलग होकर कल किसी अज्ञात अपरिचित देश में अपने भाग्य का अन्वेषण करने के लिए चला जायगा। पुत्र की इस यात्रा के सम्बन्ध में सहमत होने पर भी पता नहीं क्यों उनके हृदय में एक प्रकार की शून्यता की सृष्टि हो रही थी। उनका व्याकुल चित्त एक प्रकार की विपत्ति की आशंका से अधीर होता जा रहा था। विदाई के दृश्य की कल्पना करते ही उनके हृदय में जिस अत्यन्त प्रबल तूफ़ान की सृष्टि हो रही थी वह वर्णन से परे था।

चार-पाँच दिन हुए, अनादि बाबू परिवार-सहित बम्बई में आ गये थे। अनिल दूसरे ही दिन 'चायना' जहाज से विलायत जा रहा था, इसी से सब लोग उसे जहाज पर बैठालने के लिए आये थे।

बड़ी देर की निस्तब्धता के बाद सुषमा की माता ने पुत्र की ओर दृष्टि फेरी। अनिल माता की ही ओर ताक रहा था। मनोरमा ने कहा—इस तरह एकाग्र भाव से क्या देख रहा है अनिल ?

अनिल ने शान्त कण्ठ से कहा—आपको ही तो देख रहा हूँ मा। इन्हीं तीन-चार दिनों में पता नहीं, आप कैसी हो गईं। आप इतनी चिन्ता क्यों कर रही हैं? यदि यही हाल रहा तो आप कितने दिनों तक जीवित रह सकेंगी ?

आँसुओं से रुँधे हुए कण्ठ से माता ने कहा—पता नहीं क्यों मुझे ऐसा लगता है कि शायद मैं तुझे फिर न देख सकूँगी।

अनादि बाबू ने स्थिर कण्ठ से कहा—शान्त होओ। तुम यदि इस तरह अधीर होओगी तो परदेश में इसे अकेले कितना कष्ट होगा ?

अनिल ने देखा कि माता के मुख की आभा एक-दम ग़ायब है। वह स्वयं भी माता को प्राणों से अधिक प्रिय समझता था, एक क्षण के लिए भी माता से विलग होना उसके लिए असह्य था। इससे उसे यह अनुभव करने में विलम्ब न हुआ कि इतने दीर्घकाल के व्यवधान की आशंका से माता के हृदय में कितने जोर का तूफ़ान उठा होगा। परन्तु वह कर क्या सकता था ? उसे तो यह स्नेहमय गोद त्याग कर यात्रा करनी ही थी और यात्रा करनी थी उस अनन्त असीम-जल-राशि को चीर कर एक निर्दिष्ट स्थान पर अपने भाग्य को अधिकार में करने के लिए। आज यह भारत-भूमि उसे कितनी मधुर, कितनी प्रिय, मालूम पड़ रही थी! आज माता, पिता, बहन, यहाँ तक कि जन्मस्थान की मिट्टी तक सजीव होकर उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। वह सोचने लगा कि मा जो कुछ कह रही हैं वही यदि सच हो गया तो मैं क्या करूँगा ? गौरव प्राप्त करके विदेश से लौटने पर क्या माता के चरणों पर मस्तक रखने का सौभाग्य मिलेगा ? यदि इसमें सन्देह है तो सफलता की ही मुझे क्या आवश्यकता है ?

मनोरमा देवी ने कोई बात नहीं कही। यह देखकर अनादि बाबू ने कहा—अनिल से बातें करो। तीन-चार वर्ष की कोई बात नहीं है। वे तो देखते ही देखते कट जायँगे। इस तरह अधीर क्यों हो रही हो ?

माता के मुख की ओर ताककर सुषमा ने कहा—तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रही हो मा ? भैया शीघ्र ही लौट आवेंगे। तुम्हें तो जरा भी धैर्य्य नहीं है।

मनोरमा देवी ने गम्भीर और खिन्नतापूर्ण दृष्टि से कन्या की ओर देखा। वेदना से व्यथित कण्ठ से वे कहने लगीं—तुम दोनों मेरे क्या हो, यह बात वे अन्तर्यामी ही जानते हैं।

सुषमा ने कहा—मा, तुम तो भैया के सम्बन्ध में यह सदा से ही कहती आ रही हो कि इन्हें विलायत भेजूँगी। फिर आज इस तरह अधीर क्यों हो रही हो ?

मुँह से कहना और बात है, लेकिन सन्तान की बिदाई का दिन जब आ जाता है तब वह माता के लिए बहुत ही करुण, बहुत ही निर्मम होता है। यह बात सुषमा-जैसी अनुभवहीन बालिका को किस तरह समझाई जाय, यह उसकी मा की समझ में न आया। उनके सामने जो विराट विस्तृत समुद्र था उसका आदि कहाँ है और अन्त कहाँ है, यह बात बतलाना सम्भव नहीं था। ठीक इसी प्रकार प्राणों से भी अधिक प्रिय एकमात्र पुत्र के वियोग की आशंका से माता के हृदय की चिन्ता ने कितना अधिक विस्तार कर लिया था ? क्या वह इस सीमाहीन अशेष सागर के ही समान नहीं थी ? इस चिन्ता का क्या कहीं अन्त था ? मनोरमा सोचने लगीं—सुषमा पागल है। उसे मैं समझाऊँ कि मेरे हृदय में किस प्रकार की अपरिसीम व्याकुलता का पवन बह रहा है ?

एक दिन की बात है। उस समय अनिल बहुत छोटा था। वह दौड़ता हुआ घर में आया और भयभीत होकर माता की गोद में

बैठ गया। पिता के बहुत आग्रह के साथ, व्याकुल भाव से, बुलाने पर भी वह उनके पास नहीं गया। अपने छोटे-छोटे दोनों बाहुओं से मा का गला पकड़कर तोतली बोली में उसने कहा——नहीं, मा के पास से मैं न जाऊँगा। उस दिन की वह सुखमय घटना मनोरमादेवी के स्मृति-रूपी सागर के तल-देश में पड़ी थी। आज वह वर्त्तमान के प्रगाढ़ अन्धकार को भेदकर उनके मानस पर उदित हो आई। जिस दिन वह घटना हुई थी, अतीत के आलोक से कितना उज्ज्वल था, कितना आनन्ददायक था। अनिल की उस समय की तोतली बोली, उसके मुँह से अस्पष्ट रूप से निकला हुआ अधूरा शब्द आज भी उसकी मा के कर्ण-कुहर में गूँज रहा था। मनोरमादेवी सोचने लगीं कि यदि मैं वह दिन फिर लौटा पाती, आज यदि अनिल उसी तरह उस दिन का अस्पष्ट रूप से उच्चारण किया हुआ शब्द, नहीं मैं न जाऊँगा, दोहरा देता, तो क्या ही अच्छा होता। क्षण भर में वे फिर सोचने लगीं——नहीं, नहीं, ऐसा क्यों हो? वह जाय। इससे तो अनिल सुखी होगा, इसी में मुझे भी सबसे अधिक शान्ति मिलेगी, यों मुझे चाहे कितना ही कष्ट क्यों न सहन करना पड़े।

समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता। देखते देखते अनिल की यात्रा का दिन आ पहुँचा। तट-भूमि से दूर अगाध जल में सुसज्जित होकर 'चायना' नामक जहाज धुआँ उगल रहा था। तट पर नौका सजी थी, जिस पर यात्री लोग आ-आकर बैठ रहे थे। मनोरमादेवी अनिमेष दृष्टि से इस नौका की ओर ताक रही थीं। आज वे मानो इसी नौका पर अपना सर्वस्व चढ़ा देने आई थीं। पुत्र को बिदा करते समय माता का हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा था। उस समय वे सोच रही थीं कि अरब-सागर की उन्मत्त तरंगें मानो तरणी की दीवारों पर आ-आकर गिर पड़ती हैं। तो क्या उनके हृदय के अन्तस्तल में भी ये तरङ्गें एक उत्ताल तरङ्गमाला की सृष्टि कर रही थीं?

अनिल माता से बिदा लेने के लिए आया। उस समय उनका मुखमण्डल किसी मरी हुई स्त्री के मुख के ही समान निस्तेज और रक्तहीन हो गया था। सारा शरीर वायु के झकोरों का आघात पाये हुए कदली के वृक्ष के समान थर-थर काँप रहा था। अनिल आगे बढ़ा और माता के कन्धे पर मस्तक रखकर भर्राई हुई आवाज़ से कहने लगा—"मा. . . .अब. . .समय—"

मनोरमादेवी पुत्र से लिपट गई। उसे दृढ़ आलिङ्गन में आबद्ध करके वेदना से व्यथित कण्ठ से उन्होंने कहा—अनिल, बेटा, शायद मैं अब. . .तुझे. . .

माता की छाती से मस्तक लगाये हुए अनिल चुपचाप आँसू बहाता रहा।

माता की ओर अग्रसर होकर सुषमा ने कम्पित कण्ठ से कहा—मा, जाते समय भैया को कष्ट न दो। देखो न मा, भैया . . .

कम्पित चरणों से अनादि बाबू भी पत्नी की ओर बढ़ गये। उन्होंने कहा—क्या कर रही हो तुम? यात्रा के समय लड़के को रुला दिया न?

मनोरमादेवी पुत्र के वियोग की व्यथा से व्याकुल हो उठी थीं अवश्य, किन्तु वे थीं बहुत ही कर्त्तव्यपरायणा और धैर्यशालिनी महिला। अपने हृदय को संयत रखने तथा अपने कर्त्तव्य कर्म से कभी विचलित न होने का उनका स्वभाव था। इससे ज़रा ही देर में अपने अशान्त हृदय को उन्होंने शान्त कर लिया और पुत्र को सान्त्वना देकर वे स्वाभाविक स्वर में कहने लगीं—अनिल, देरी न कर बेटा!

माता के आभाहीन और निस्तेज मुख पर दृष्टि स्थिर करके रुद्धकण्ठ से अनिल ने कहा—जितनी जल्दी हो सकेगा, उतनी ही जल्दी मैं लौट आऊँगा मा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना। यदि तुम मन में दुःखी होओगी तो मुझे बड़ा कष्ट मिलेगा।

पुत्र का मस्तक चुम्बन कर माता नीरव भाव से अश्रुविसर्जन करने लगी। पिता के समीप आकर अनिल ने उनसे भी बिदा माँगी।

दोनों बाहु फैलाकर अनादि बाबू ने अनिल को दृढ़ आलिङ्गन में आबद्ध कर लिया। उन्होंने अत्यन्त ही करुण स्वर से कहा—जाओ बेटा, खूब सावधानी से रहना, पत्र देने में विलम्ब न करना। अपनी मा की दशा तो तुम देख ही रहे हो।

सुषमा ने कहा—आप भी रो रहे हैं बाबू जी!

सुषमा की ओर ताक कर अनिल ने कहा—सुषमा!

भर्राई हुई आवाज़ से सुषमा ने कहा—भैया! कि.....स...त...र...ह मा..को...

सुषमा के काँपते हुए दोनों हाथों को अपने हाथ में लेकर अनिल ने कहा—सुषमा तू भी रो रही है? तेरा हृदय तो लोहे से भी कड़ा है। आज तू इस तरह विह्वल क्यों हो रही है? तुम लोगों को छोड़कर मैं बहुत दूर देश में जा रहा हूँ। मुझे अब कष्ट मत दो। ये बातें याद आने पर मुझे वहाँ कितना कष्ट होगा?

जल से भरे हुए दोनों ही नेत्रों को भाई के मुख पर आवद्ध करके सुषमा ने कहा—मा को और बाबू जी को किस तरह...

इतने में जहाज़ का अन्तिम घंटा बजा। खलासी लोग दौड़-दौड़ कर सीढ़ियाँ हटाने का उद्योग करने लगे। जहाज़ के डेक पर तमाम गर्द जमी थी। सुषमा उसी पर बैठ गई। आज से पहले उसने एक बार भी नेत्रों से आँसू नहीं गिरने दिये थे। परन्तु आज वह उन्हें रोकने में किसी प्रकार भी समर्थ न हो सकी। इतने दिनों से मानो उसने आँसुओं का एक बहुत बड़ा कोष संचित कर रक्खा था। आज वह कदाचित् शून्य होकर ही रहेगा। सुषमा सोचने लगी कि भैया को बिदा करके हम किस प्रकार इस आनन्द-हीन घर में निवास कर सकेंगे।

जहाज़ छूट रहा था। अनिल ने बड़ी कठिनाई से रोती हुई सुषमा को शान्त करके माता-पिता को सान्त्वना दी और सबको वापस किया। वे सब जब दृष्टि-पथ से अतीत हो गये तब वह केबिन में गया और बिस्तरे पर लेट रहा।

इकतीसवाँ परिच्छेद

चिन्ता का आरम्भ

समस्त दिन व्यतीत हो गया। प्रायः सन्ध्या हो आई। सन्तोष बराबर वासन्ती की प्रतीक्षा में बैठा रहा, परन्तु उस समय तक भी वह उसके दृष्टिपथ पर नहीं आ सकी। उस दिन रागिणी की परिचर्या के लिए जो जो वस्तुएँ आवश्यक होती थीं वे सब चमेली ही ला लाकर सन्तोष के समीप उपस्थित कर देती थी। किन्तु सन्तोष की तृष्णापूर्ण दृष्टि आज केवल कमरे के द्वार की ही ओर लगी रही। उसने यह अनुभव किया कि मुहूर्त्त भर की दुर्बलता के कारण आज इस तरह मेरे हृदय को पराजय स्वीकार करनी पड़ी है। आज मेरा हृदय वासन्ती के लिए व्याकुल हो उठा है। मेरे शरीर का अणु-परमाणु तक आज वासन्ती के लिए व्याकुल हो उठा है।

जो मुख सदा घूँघट से ढँका रहता है, मनुष्य की कौतूहलपूर्ण दृष्टि सदा ही उस पर निपतित होने के लिए प्रयत्नशील रहती है। लोग सोचते हैं कि कदाचित् इस घूँघट की आड़ में छिपे हुए मुख में कोई अपरिमित सौन्दर्य-निधि निहित होगी। उसे देखने के लिए पुरुष की दृष्टि जब व्याकुल होती है तब स्वभावतः हृदय में आग्रह उत्पन्न कर देती है। वासन्ती की प्रतिदिन की मुलाक़ात के कारण सन्तोष के हृदय में भी उसी प्रकार का आग्रह उत्पन्न हुआ और वही धीरे धीरे विकसित होकर तीव्र आकांक्षा के रूप में परिवर्तित हो उठा। वासन्ती निरलस थी, सेवापरायण थी। वह बहुत ही शान्त, स्निग्ध तथा मधुर भाव से दृष्टिपात करती और हर एक काम संकोच-रहित भाव से करती रही। उसके मुखमंडल पर से प्रसन्नता

का भाव कभी दूर नहीं होने पाता था। इस प्रकार अविराम गति से घर के लोगों की सुख-सुविधा तथा रोगिणी की परिचर्या के कार्यों में वह बराबर लगी रहती थी। सन्तोष के साथ उसका जो एक सम्बन्ध था उसे मानो वह भूल ही गई थी। किस प्रकार के प्रयत्न से मनुष्य की चित्तवृत्ति इस रूप में लाई जा सकती है?

पहले सन्तोष का हृदय वासन्ती की ओर आकर्षित नहीं हुआ था। परन्तु बाद को धीरे धीरे उसके हृदय में वासन्ती के प्रति एक प्रकार की प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव उत्पन्न होने लगा। वह अनुभव करने लगा कि वासन्ती को मैंने जिस प्रकार की अश्रद्धा के साथ अपने से दूर कर रक्खा है, सम्भवतः वह इतनी हेय नहीं है। आज रह-रहकर पिता की मृत्युकाल में उनके क्षीण कण्ठ से निकली हुई वाणी सन्तोष के कान में गूँज उठती थी। आज सन्तोष की वह प्रतिज्ञा कहाँ है? कहाँ गया उसका वह अहंकार? मूर्च्छित और चेतनाहीन अवस्था में भी एक दिन उसकी अवहेलना करने में उसने द्विविधा का अनुभव नहीं किया, जिसकी निष्कपट हृदय की व्याकुल प्रार्थना भी उसको प्रतिज्ञा से विचलित करने में समर्थ नहीं हो सकी, इतने वर्ष तक जिसकी ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता का उसने अनुभव नहीं किया, आज सन्तोष का मन उसी वासन्ती के मन के द्वार पर किस वस्तु की भिक्षा के लिए हाथ जोड़े खड़ा था?

जिस प्रकार के विचार को सन्तोष हृदय में स्थान तक नहीं देना चाहता था, आज वही घूम-फिरकर उसके हृदय पर प्रबल भाव से अधिकार किये जा रहा था। वासन्ती के हृदय में जो इस प्रकार का परिवर्त्तन हो गया था उसमें जो इतना अधिक उदासीनता का भाव आ गया था, उसके लिए उत्तरदायी कौन था? जो कुछ स्त्री नहीं कर सकती, वासन्ती ने वह भी किया था। किन्तु उसके बदले में उसने पाया क्या था? अत्याचार, अन्याय और उत्पीड़न, और कुछ

नहीं। लोग मुँह से खातिरदारी कर देते हैं, परन्तु सन्तोष से तो इतना भी नहीं बन पड़ा। यह क्यों? वासन्ती का क्या अपराध था?

आज सन्तोष के हृदय में वासन्ती के सम्बन्ध की एक-एक बात उदय हो रही थी। वह मन ही मन सोचने लगा कि नवपुष्पित यौवन में स्वच्छ, निष्कपट और कल्मषहीन हृदय लेकर स्वेच्छा से वह मेरे समीप गई थी अपनी दुःख-दुर्दशा का हाल बतलाकर शरण माँगने के लिए। उस समय मैंने उसे क्या दिया था? केवल दुःख, केवल कष्ट और उसके साथ ही साथ व्यंग्य—ऐसा व्यंग्य जो हृदय को कुचल दे? क्या इतने दिनों में वासन्ती वह सब भूल गई होगी? तो आज वही यह उपयुक्त अवसर हाथ से क्यों जाने दे? परन्तु यह बात कहाँ है? उसके व्यवहार में तो किसी प्रकार की त्रुटि मालूम नहीं पड़ती?

सन्तोष को मन ही मन बड़ी ग्लानि हुई। वह सोचने लगा कि मैं अपने इस अशिष्ट और निर्लज्जतापूर्ण आचरण को किस तरह स्वाभाविक आत्मीयता के आवरण से ढँक कर घूमता फिरता हूँ। आज मैं समस्त हृदय से वासन्ती से प्रेम करता हूँ। क्या न्याय की दृष्टि से मैं इसके लिए अधिकारी हूँ? विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जब सुदीर्घ काल तक मैंने उसी को दूर कर रक्खा था, उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा हूँ, अपने हाथ से ही मैंने अपने इस व्यवधान के लिए चहारदीवारी खड़ी की है और मैं स्वयं इस चहारदीवारी को फाँदने के लिए व्यग्र हूँ।

बड़ी देर के बाद अपना समस्त संकोच दूर करके सन्तोष ने चमेली से पूछा—वे आज कहाँ गईं रे?

संशयपूर्ण कण्ठ से चमेली ने कहा—किसके सम्बन्ध में कह रहे हो भैया?

"वही नया आदमी रे! तुम लोगों की भाभी।"

ज़रा देर तक चुपचाप बैठी रहने के बाद चमेली ने कहा—पता नहीं, क्या बात है। वे सबेरे से ही लेटी हुई हैं। कहती है कि शरीर अच्छा नहीं है। शरीर ख़राब होने का काम भी उन्होंने किया है। डेढ़-डेढ़ महीने हो गये, रात-रात भर वे बराबर जागती आई हैं। इस तरह कोई रात में जागता है?

सन्तोष उस समय सोच रहा था कि वासन्ती आज मिथ्या के आवरण में अपनी सारी व्यथा छिपा रखना चाहती है या सचमुच उसकी तबीअत ख़राब है?

सन्तोष ने जब देखा कि चमेली रोगिणी के कमरे में बैठी है तब वह उस कमरे से निकल आया और सीधे दो तल्ले पर गया। वहाँ एक कमरे में जाकर उसने देखा कि वासन्ती सिर से पैर तक एक चादर ताने हुए सोई हुई है।

सन्तोष ने दबे पैर से कमरे में प्रवेश किया। ज़रा-सा दरवाज़ा भिड़ाकर जैसे ही वह पीछे फिरकर खड़ा होने लगा, उसने देखा कि वासन्ती उठकर बैठने जा रही है। यह देखकर उसने कहा—नहीं, नहीं, मैं यहीं—

बिस्तरे पर जगह काफ़ी थी। फिर भी धूलि से भरे हुए कमरे के फ़र्श पर वह बैठ गया। वहाँ बैठे बैठे बहुत-सा समय व्यतीत हो गया। परन्तु वासन्ती ने अपनी ओर से कोई भी बात नहीं छेड़ी। यह देखकर सन्तोष ने सोचा कि अब सारी बात अपने आप ही कह डालना मेरे लिए उचित है। कातर दृष्टि से वासन्ती की ओर ताक कर उसने कहा—क्या तुम्हारी तबीअत कुछ ख़राब है या मुझसे रुष्ट होकर तुम इस तरह पड़ी हो?

वासन्ती ने कहा—तबीअत! नहीं, तबीअत नहीं ख़राब है। और मेरे रुष्ट होने के सम्बन्ध में जो आप पूछ रहे हैं, सो मैं रुष्ट क्यों होऊँगी? क्या रुष्ट होने का अधिकार मुझे है?

संकोचपूर्वक ज़रा-सा मुस्कराकर सन्तोष ने कहा—तो क्या रोष में भी किसी का अधिकार होता है, किसी का नहीं होता ?

वासन्ती ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उसे चुप देखकर पत्नी के सूखे हुए मुंह की ओर सन्तोष की दृष्टि गई। अन्त में वह कहने लगा—मुझे जब इस बात का विश्वास हो जायगा कि आप मुझसे रुष्ट नहीं है तब मेरे जी में जी आवेगा। मैं सोच रहा था कि कल रात की—

उस समय वासन्ती के मन में यह बात आती थी कि उसके इतने दिनों के रोष या अभिमान के कारण सन्तोष को क्या लाभ या हानि हुई है, यह बात उससे पूछ ली जाय। वह यह भी पूछ लेना चाहती थी कि इतने दिनों के बाद अकस्मात् आज ही क्यों मेरे लिए तुम्हारा हृदय व्यग्र हो उठा है ? परन्तु सन्तोष की बात का कोई भी उत्तर न देकर वासन्ती ने केवल इतना ही कहा कि मैं जाती हूँ।

सन्तोष ने कहा—नहीं, नहीं, इस समय जाने की आवश्यकता नहीं है। बुआ जी की तबीअत आज बहुत अच्छी है। जिस तरह भी होगा, आज की रात का सारा आवश्यक प्रबन्ध वे लोग कर लेंगे।

पृथिवी की ओर ताकती हुई वासन्ती बैठी रही। सन्तोष ने उसके जाने में जो आपत्ति की थी उसका खण्डन करने का वासन्ती ने कोई उद्योग नहीं किया। कुछ देर तक उसके मौनमुख की ओर ताकते रहने के बाद असहिष्णु भाव से सन्तोष ने कहा—तुमसे ज़ोर करके उत्तर प्राप्त करने की शक्ति मुझमें नहीं है, तो भी यदि बतलाओ तो एक बात पूछूँ।

उसी तरह शान्त और संयत कण्ठ से वासन्ती ने कहा—कहिए।

"मैंने कल जो अपराध किया है उसके लिए तुमसे क्षमा माँगने आया हूँ।"

वासन्ती ने अपना झुका हुआ मस्तक ऊपर की ओर उठाया। उसने देखा तो सन्तोष उसी की ओर ताक रहा था। इससे वासन्ती की

आँखों की पलकें अपने आप ही झुक गईं। सन्तोष के इस लज्जाहीन दृष्टिपात के कारण उसका मुख रक्तवर्ण हो उठा। किन्तु उसका यह भाव भी सन्तोष की दृष्टि को बचा न सका। उपेक्षिता पत्नी की वह लाजभरी चितवन ही आज सन्तोष को बहुत मधुर लग रही थी। उसके कारण उसे इतना सुख मिल रहा था, जितना शायद दृष्टिहीन हो जाने के बहुत दिन बाद नई दृष्टि-शक्ति पा जाने पर भी किसी को न मिलता होगा। वासन्ती जो कुछ कहने जा रही थी उसे वह कह न सकी।

निस्तब्धता भंग करके सन्तोष ने कहा—कहो न? क्या कहती थीं? रुक क्यों गईं? बोलो, मेरा अपराध क्षमा कर सकी हो?

लज्जा के कारण रुँधे हुए कण्ठ से वासन्ती ने कहा—आप बार बार वह बात क्यों कह रहे हैं? मैं—

उस समय सन्तोष को यह इच्छा हो रही थी कि वासन्ती का झुका हुआ मुख उठाकर एक बार देख लूँ कि इस शान्त सुन्दर और मौन अधरोष्ठ के बीच में कौन-सी भाषा उसने रुद्ध कर रक्खी है। धीरे-धीरे वह कमरे से निकल गया।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

उलटी हवा

बुआ जी का शरीर उत्तरोत्तर आरोग्य होने लगा। वे सबको पहचानने लगीं। उनकी स्मरण-शक्ति भी ठिकाने पर आ गई। इधर चार-पाँच दिन से उन्हें ज्वर आना भी बन्द हो गया था। डाक्टर कह गये थे कि कल इन्हें भोजन दिया जाय। आज-कल वे दस-पाँच मिनट उठकर बैठने भी लगी थीं। विनय की मा का शरीर ज़रा कुछ अच्छा होते ही ताई जी शि ाजगंज चली गईं।

एक दिन दूसरे वक़्त वासन्ती अनार का रस निचोड़कर बुआ जी को पिलाने जा रही थी, इतने में उन्होंने कहा—कितने दिनों तक यह रस पीती रहूँगी बिटिया? एक स्त्री को इस तरह बचा लेने की क्या आवश्यकता थी? तुम लोग जिस तरह खा-पीकर—

इतने में मुस्कराते हुए कमरे में प्रवेश करके सन्तोष ने कहा—किसकी बात कह रही हो बुआ जी?

बुआ जी ने सन्तोष को अपने पास बैठने की आज्ञा देकर कहा—तुम लोगों के पागलपन की बात कह रही थी। क्या एक स्त्री को भी बचाने के लिए इतना उद्योग करना आवश्यक होता है? देखो न घंटे घंटे पर औषधि और फल का रस देते देते बड़ी बहू तंग आ गईं। मेरे पीछे चौबीस घंटे उन्हें परेशान रहना पड़ता है। मैं मानो उनकी छोटी-सी लड़की हूँ। तुम लोगों की भी यही दशा थी।

सन्तोष ने कुछ खिन्नभाव से कहा—क्यों बुआ जी, क्या स्त्री मनुष्य ही नहीं है? क्या स्त्री के प्राण प्राण ही नहीं हैं?

बुआ जी ने दुःखमय स्वर में कहा—परन्तु इसका तुम लोग कहाँ अनुभव करते हो?

सन्तोष ने समझ लिया कि यह ठोकर बुआ जी ने मेरे ही ऊपर जमाई है, तो भी इस बात को उसने टाल देने का ही प्रयत्न किया। वह कहने लगा कि आपकी बीमारी के कारण फूफा जी की कैसी अवस्था हो गई थी, यह देखे बिना आप न अनुभव कर सकेंगी।

बुआ जी ने कहा—यह बात ठीक है बेटा, परन्तु उन्हें और तुम लोगों को छोड़कर मैं मर सकती तभी अच्छा था। भाग्य में कब के लिए क्या लिखा है, यह कौन बतला सकता है ?

सन्तोष ने कहा—ज़रा देर के लिए मुझे बाहर जाना है। यह कहकर जैसे ही वह उठकर खड़ा हुआ, उसकी पिपासाकुल दृष्टि क्षण भर के लिए वासन्ती पर निपतित हुई। उसने देखा तो वासन्ती शान्त और स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर ताक रही थी। उतावली के साथ अपने अबाध्य चरणों को जूतों में डालकर वह कमरे से निकल पड़ा।

इधर कुछ महीनों से एक प्रकार की प्रबल चिन्ता सन्तोष के हृदय को बराबर ही व्यथित करती आ रही थी। प्रयत्न करके भी हृदय से उस चिन्ता को दूर करने में सन्तोष सफल नहीं हो सका। वह बराबर इसी बात पर विचार करता रहता कि वासन्ती मुझसे प्रेम करती है या नहीं ? आज जो आँख बचाकर वासन्ती उसकी ओर ताक रही थी उसके कारण उसके इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ मिल गया। वासन्ती की उस समय की चितवन ने सन्तोष के क्षणभंगुर और निराशापूर्ण हृदय में थोड़ी-सी आशा का बीज वपन किया, ऐसा प्रतीत होने लगा। रात्रि में जब शय्या पर लेटा तब भी सन्तोष के हृदय-रूपी आकाश पर वासन्ती की आँखें दो उज्ज्वल नक्षत्रों के समान उदित हो आईं।

यह घटना हुए कई दिन व्यतीत हो गये। साँझ का समय था। वासन्ती थोड़े से पान लेकर बना रही थी। इतने में सुजाता आई और पूछने लगी—क्यों दीदी, क्या तुम कल चली जा रही हो ?

पान में कत्था लगाते लगाते मुँह नीचा किये ही हुए वासन्ती ने कहा—क्या करूँ बहन? भाग्य ही खींचे लिये जा रहा है। जाऊँ न तो करूँ क्या?

कुछ कृत्रिम रोष का भाव दिखलाती हुई सुजाता कहने लगी—नहीं दीदी, आप न जाने पावेंगी। आपके चले जाने पर मैं क्या करूँगी?

वासन्ती ने धीरे से हँसकर कहा—इतने दिनों तक तो तुम्हीं लोग घर-गृहस्थी का सारा काम-काज सँभालती आ रही हो, अब तुमसे क्यों न सँभल सकेगा? किसी के बिना किसी का कोई काम रुका नहीं रहता रे! मैं तो घुमक्कड़ हूँ सुजाता। मेरे दिन इसी तरह भटकते-भटकते बीत जायँगे।

सुजाता ने कहा—यह सब मैं नहीं सुनना चाहती दीदी। आपके चले जाने पर काम न चलेगा।

सुजाता मुँह नीचा किये हुए बैठी थी। वासन्ती ने उसे पकड़ कर उसका झुका हुआ मुँह ऊपर की ओर उठाया और हँसी हँसी में कहने लगी—तुम्हारे आज्ञाकारी सेवक तो हैं ही, उनसे भी तो तुम बहुत से काम करवा ले सकती हो। इस तरह के प्रेमी जहाँगीर जिसके हैं उसके लिए इतनी चिन्ता करने की कौन-सी बात है सुजाता?

सुजाता ने वासन्ती से अपना हाथ छुड़ा लिया। वह कहने लगी—चलिए, चलिए! मुझे कहने के लिए आप भी बहुत हैं। इधर आपके जगतसिंह जो आज-कल इस तरह गोते खा रहे हैं, उनकी ओर मानो आपका कोई ध्यान ही नहीं है।

वासन्ती ने एक हलकी-सी साँस लेकर कहा—कौन कहता है रे? नहीं तो। मेरी समझ में तो ऐसी कोई बात है नहीं। परन्तु लोग कहते हैं। सुनने में भी जरा-सा सुख है। वही मुझे भी...।

रहस्यपूर्ण दृष्टि से वासन्ती के मुँह की ओर ताककर सुजाता ने कहा—भुनी हुई मछली फिर उठ कर खाना नहीं जानती। यह जो इतने अधिक चक्कर लगाये जाते हैं, किसलिए?

वासन्ती ने कहा—बाप रे, ऐसी बात ! बिल्ली के भाग्य से एक दिन सिकहर टूट गया था, राह भूल कर कुराह में पड़ गये थे, इसी में तुम लोगों को इतना आनन्द आ गया।

सुजाता ने कहा—ठहरिए, ठहरिए। यह सब हम समझती हैं। साँप की फुफकार मदारी से छिपी नहीं रह सकती।

वासन्ती ने वक्र दृष्टि से जरा-सा ताककर कहा—यह तो तुम समझोगी ही। वशीकरण का मन्त्र तुम लोगों को सिद्ध है न ! तुम लोग जो कामरूप के चलानी माल हो। विनय बाबू की वर्त्तमान दशा ही इसका प्रमाण है। देखो न, वे कैसे भेड़ बने रहते हैं।

सुजाता ने कहा—आप ही क्या कम हैं ?

वासन्ती ने कहा—इसका भी प्रमाण है। सात वर्ष में तो कुछ कर नहीं सकी। अब तुम्हें देखने को जो कुछ बाकी हो।

इतने में चमेली के लड़के मंटू ने आकर कहा—छोटी मामी, छोटे मामा बुला रहे हैं।

वासन्ती हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। सुजाता ने यह देखकर कहा—उन्हें बुलाने का और कोई समय ही नहीं था ?

यह सुनकर वासन्ती और हँसी। वह कहने लगी—इसके लिए भी कोई समय-असमय होता है ? घड़ी की सुई जिस समय जिस ओर घूम पड़े।

मुँह दबाकर हँसते-हँसते सुजाता ने कहा—अच्छा, अच्छा, मैं भी देख लूँगी। अभी जल्दी तो मरी नहीं जा रही हूँ।

सुजाता ने कहा—देखना।

मंटू का हाथ पकड़े हुए सुजाता कमरे से निकल गई।

कितना समय इसी तरह बीत गया, वासन्ती यह जान न सकी। उस समय वह सोच रही थी कि निःसङ्ग, कर्महीन और नीरस जीवन को जरा-सी शान्ति प्रदान करने की आशा से तीर्थभ्रमण के निमित्त

जिस घर का सान्निध्य छोड़कर स्वेच्छा से चली आई हूँ, आज फिर उसी गाँव में, उसी घर में, मुझे लौटकर जाना पड़ेगा।

वासन्ती का इस तरह अकेले रहकर जीवन व्यतीत करना कितना कष्टकर था! इतने बड़े बड़े दिन, इतनी बड़ी बड़ी रातें वह कितने क्लेश से व्यतीत किया करती थी! उसकी दुःखमय अवस्था का अनुभव करनेवाला क्या और भी कोई था?

एकाएक किसी प्रकार के एक शब्द से उसकी विचार-धारा परिवर्तित हो गई। बिजली की तेज रोशनी में उसने देखा तो दरवाजे के पास सन्तोष उसी की ओर ताकता हुआ खड़ा है। वासन्ती की दृष्टि से उसकी दृष्टि मिलते ही जरा-सा मुस्कराकर उसने कहा—बुआ जी को दवा दे चुकी हो?

वासन्ती के मस्तक हिलाकर अपनी स्वीकारोक्ति प्रकट करते ही सन्तोष ने मृदु कण्ठ से कहा—एक बात कहने आया था।

वासन्ती उस समय सोच रही थी कि ये एकाएक इतने अच्छे आदमी कैसे हो गये। फिर भी स्वामी की यह बात उसके कान में व्यङ्ग्यमय हँसी के ही समान आघात पहुँचाने लगी। अपने मन का भाव दबाकर यथासाध्य संयत कण्ठ से उसने कहा—कौन-सी बात है?

सन्तोष ने कम्पित कण्ठ से कहा—तो क्या तुम कल जा रही हो?

जरा-सा संकोच का भाव प्रदर्शित करके मुँह नीचा किये हुए वासन्ती ने कहा—हाँ।

"क्यों जा रही हो, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ?

वासन्ती ने असहिष्णु भाव से कहा—ताई जी की तबीअत खराब है। बाबू जी के श्राद्ध का भी समय समीप है—

मृदु स्वर से सन्तोष ने कहा—क्या इस समय न जाओ तो काम न चल सकेगा? बुआ जी तो अभी अच्छी नहीं हुई हैं।

वासन्ती ने मुँह नीचा किये हुए कहा—गये बिना किस तरह—

सन्तोष ने मृदु स्वर से कहा——नहीं, मैं रोकता नहीं हूँ, केवल——
सन्तोष और नहीं खड़ा रह सका।

डिब्बे के भीतर समेट समेट कर पान रखते हुए वासन्ती ने मन ही मन कहा——अब क्या हो गया है? साफ़ साफ़ तो उन्होंने कोई बात कही नहीं, साथ ही उनके आने का उद्देश्य क्या था, यह भी मैं न समझ सकी। इधर कुछ दिनों से स्वामी के भावों में उसे बहुत कुछ परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हो रहा था, परन्तु यह परिवर्त्तन वासन्ती के मन में जमता नहीं था। बात यह थी कि सन्तोष एक सनकी आदमी था, यह बात वह अच्छी तरह समझ गई थी। इससे वह सोचने लगी कि यह भी शायद उनकी एक प्रकार की सनक ही है। परन्तु एक बात हुई। सन्तोष के विषादमय और सूखे हुए मुख का प्रतिबिम्ब वासन्ती के निराश हृदय में उदित हो आया।

सन्तोष के हृदय का पवन आज-कल विपरीत दिशा की ओर बहने लगा है, यह बात वासन्ती अच्छी तरह से तो नहीं, लेकिन कुछ कुछ समझने लगी थी। परन्तु पति की बुद्धि में जो इस प्रकार का परिवर्त्तन हुआ है, उस पर उसे विश्वास नहीं होता था। इस कारण सन्तोष के मन की बात बहुत कुछ समझ कर भी प्रायः उसकी उपेक्षा कर देना चाहती थी। वह सोचती कि शायद आकाश-कुसुम की माला गूँथना ही उनका उद्देश्य हो। ऐसी दशा में उनके हृदय की बात न जानना ही अच्छा है। मैं गवारिन हूँ, गवारिन की ही तरह पड़ी रहूँ, यही ठीक होगा।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

प्रतिज्ञा की पराजय

साँझ को वायु-सेवन के बाद सन्तोष लौटकर घर आया। यहाँ आकर उसने देखा तो विनय अपने कमरे में पढ़ रहा था। कपड़े आदि उतार कर उसने एक कुर्सी दखल कर ली और वह उसी पर बैठ गया। बाद को उसने विनय से कहा—फूफा जी ने बुआ जी के जाने के सम्बन्ध मे क्या किया विनय? दो-तीन महीने बीत चले, किन्तु अभी तक उनका ज्वर छूटता नहीं दिखाई पड़ता।

विनय ने कहा—पिता जी भी बहुत चिन्तित हो उठे हैं। क्या करना चाहिए, यह बात उनकी समझ में हो नहीं आती। उन्हें सबसे अधिक कठिनाई यह बात तय करने में मालूम पड़ रही है कि मा के साथ जायगा कौन?

सन्तोष ने कहा—क्यों?

"आप ही न बतलाइए कि उनके साथ किसे भेजा जाय? चमेली को यदि भेज दिया जाय तो बाबू जी को देखनेवाला कोई न रह जायगा। उसके सिवा यहाँ का काम सँभालनेवाला और है ही कौन?

कुछ क्षण के बाद सन्तोष ने कहा—हाँ, यह कठिनाई तो अवश्य है, परन्तु फिर क्या किया जाय? बुआ जी को जब तक थोड़ा-सा घुमा-फिरा न लाया जायगा तब तक उनका ज्वर छूटने को नहीं।

सन्तोष के मुखमंडल पर चिन्ता की रेखा उदित हो आई। क्षण भर तक उनकी ओर ताकने के बाद विनय न कहा—सोच-विचार करने से कोई लाभ न होगा भैया, यह बड़ी कठिन समस्या है।

"ऐसा ही तो जान पड़ता है। बड़ी कठिनाई आ पड़ी है। परन्तु तुम्हारी भाभी को तो घूमना बहुत पसन्द है। उन्हीं को क्यों नहीं बुलवा लेते। आज-कल जब देखो तब वे यात्रा ही तो करती रहती हैं।

दृष्टि में कुछ फटकारने का-सा भाव लाकर सन्तोष की ओर ताकते हुए विनय ने कहा—भैया—तुम—

ज़रा-सा मुस्कराकर सन्तोष ने कहा—नाराज़ क्यों हो रहे हो विनय? जो कुछ कहने की इच्छा हो, कह लो।

विनय ने कहा—बुरा न मानना भैया, आप इतने स्वार्थपरायण हैं, यह मैं नहीं समझता था। वे ज़रा सा इधर-उधर घूम-फिरकर जी बहला लेती हैं, शायद यह भी आपके लिए सहन करने के योग्य नहीं है। भाभी जी यहाँ होतीं तो शायद आप इसके लिए उनसे जवाब भी तलब करते।

सन्तोष ने धीमे स्वर से कहा—मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि वे कोई अपराध कर रही हैं। जिसका अपना ही अपराध पर्वत के समान है, क्या वह दूसरे से जवाब तलब कर सकता है? मुझे इतना नीच न समझ लो भाई! मैं ही उनके इस तरह के घुमक्कड़-पन की आदत डालने का कारण हूँ, मैं ही उनके दुःख-क्लेश और मनोवेदना का मूल हूँ। क्या यह बात मुझे मालूम नहीं है विनय?

लज्जित कण्ठ से विनय ने कहा—नहीं, आपके चित्त को दुःखी करने के लिए मैंने ये बातें नहीं कही हैं। इसके सिवा आप लोगों के सम्बन्ध में कोई बात कहना भी मेरे लिए अनधिकार चर्चा है। परन्तु आपको यह मालूम नहीं है भैया कि भाभी जी अपने भाग्य को ही दोषी ठहराया करती हैं। आपको कभी वे किसी तरह का दोष नहीं दिया करतीं। उस दिन उन्होंने चमेली को लिखा था—यह सब मेरे भाग्य का दोष है, अन्यथा ऐसा स्वामी पाने का सौभाग्य कितनी स्त्रियों को होता है? मुझे क्षमा करना भैया, इतनी अधिक

पुस्तकें पढ़कर भी आप कुछ सीख न सके। यही कारण है कि मनुष्य का चरित्र समझने की शक्ति आज तक आप में नहीं आ सकी। भाभी जी आपको सुखी नहीं कर सकीं, इस बात का दुःख उनके हृदय में बराबर बना रहता है, क्योंकि वे प्रायः ऐसा कहा करती हैं।

सन्तोष सोच रहा था कि क्या ऐसे अयोग्य और हृदयहीन स्वामी के लिए भी वासन्ती चिन्ता किया करती है ? परन्तु यदि चिन्ता नहीं करती तो स्वामी को इस रूप में चित्रित करने में वह कैसे असमर्थ हो सकी ? मेरे स्वामी सुखी नहीं है, यह बात वह समझ कैसे पाई ?

सन्तोष वासन्ती की इस प्रकार की उदार मनोवृत्ति पर बार बार विचार करके मुग्ध होने लगा। वह सोचने लगा---मैं जो इस तरह का दुःखमय जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, इसमें वासन्ती का दोष ही क्या है ? दोष तो सारा का सारा मेरा है। फिर भी---फिर भी तो वह इतने दिनों से इतना दुःख-क्लेश, इतना अपमान और इतनी लाञ्छना सहन करते हुए भी अपने अदृष्ट को ही दोष दिया करती है। इस तरह वह मेरा सारा अपराध अप्रकाशित ही रखना चाहती है, यद्यपि इस बात का मुझे किसी प्रकार की सूचना नहीं है। इसका कारण क्या है ?

वासन्ती की इस प्रकार की महत्ता पर विचार करते करते सन्तोष का अन्तरात्मा अत्यधिक उद्विग्न होने लगी। वह हृदय में इस बात का अनुभव करने लगा कि मैंने इस तरह की स्त्री का हाल किसी से भी नहीं सुना, जो स्वामी के यथेच्छाचार को प्रश्रय देकर अपने अदृष्ट का दोष स्वीकार कर ले।

अपने मन का भाव दबा कर सन्तोष ने क्लेशमय स्वर से विनय से कहा---तो उपाय क्या है ?

दुखी भाव से विनय ने कहा---मैं तो कुछ समझ ही नहीं पाता हूँ। मैंने मा से कहा था, वे कहती हैं कि अभी तो कुछ

दो ही महीने यहाँ से बहू को गये हुए हैं। वहाँ भी बहुत-से झंझट हैं। उन्हें यहाँ बुलाकर निरर्थक रात-दिन कष्ट देना उनको पसन्द नहीं है।

सन्तोष ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उसे चुप देखकर विनय ने कहा—अच्छा भैया, न हो तो इस बार आप ही एक काम क्यों न कीजिए। आप घर चले जाइए और भाभी को लिवा ले आइए। इससे मा भी प्रसन्न हो जायँगी, साथ ही कोई झंझट भी न होगा।

सन्तोष ने स्थिर कण्ठ से कहा—यह नहीं होने का है विनय, मैं वहाँ नहीं जा सकता। मेरी—

आश्चर्य में आकर विनय ने कहा—क्यों भैया ?

सन्तोष ने शुष्क कण्ठ से कहा—मेरे लिए वहाँ जाने का मार्ग नहीं है। उत्तेजना के मारे सन्तोष का गला रुँध गया।

सन्तोष के मुखमंडल पर विषाद की रेखा उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती गई। उसकी ओर ताकते हुए विनय ने कहा—इसमें मार्ग या अमार्ग का क्या प्रश्न है भैया ? आप अपने घर जायँगे, यह तो आनन्द की ही बात है।

सन्तोष ने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—तू जानता नहीं विनय। इसमें बहुत-सी बातें हैं। वहाँ जाना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

उत्तेजनापूर्ण कण्ठ से विनय ने कहा—असम्भव है ? क्षण ही भर में उसने अपने आपको सँभाल लिया। तब उसने धीमे स्वर से कहा—मेरे विचार से तो वहाँ आपका जाना ही अच्छा है भैया।

सन्तोष के चिन्तायुक्त मुँह की ओर ताक कर विनय ने कहा—आप इतना सोच क्या कर रहे हैं भैया ?

सन्तोष ने विचलित कण्ठ से कहा—मैं जो वहाँ से प्रतिज्ञा करके आया हूँ।

संयत कण्ठ से विनय ने कहा—प्रतिज्ञा करना तो आसान है, किन्तु उसका पालन करना बहुत ही कठिन है।

यह कह कर विनय बाहर चला गया।

सन्तोष के मन में यह बात आई कि विनय ने ठीक ही कहा है। दुनिया के सामने न सही, किन्तु अपने मन के सामने तो मेरी पराजय हो ही गई है। क्या मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में समर्थ हो सका हूँ? यदि नहीं तो फिर इस पाखंड की क्या आवश्यकता है? परन्तु फिर भी वहाँ जाना मेरे लिए असम्भव है। क्षण भर के लिए भी पैर रख कर वह घर कलंकित करने का अधिकार मुझे नहीं है। परन्तु वासन्ती ही क्यों आने लगी? जिस हृदयहीन को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, वैसे निष्ठुर स्वामी के सम्पर्क में वह किस आशा से आने लगी? क्या कोई भी शिक्षित स्वामी विवाहिता पत्नी के साथ इतने दिनों तक इस प्रकार का बुरा बर्त्ताव करता रहता है? सुषमा ने ठीक ही कहा था, क्या शिक्षित स्वामी का आदर्श यही है? जहाँ से बदले में अणुमात्र भी कोई वस्तु मिल सकने की सम्भावना नहीं है, वहाँ वह इस तरह का, अपरिमित दान क्यों देती रहेगी? इससे उसका मतलब? विवाह-रूपी मूल्य से वह खरीद कर लाई गई है तो क्या इसके कारण उसने अपनी मनुष्यता को भी दासीपन की सीमा में आवद्ध कर दिया है?

वासन्ती के हृदय में पति के प्रति जो अपरिमित स्नेह तथा अगाध श्रद्धा का भाव था उसे सोच सोच कर सन्तोष का हृदय बहुत दुःखी हो रहा था। वह इस बात का अनुभव कर रहा था कि मेरे ऊपर वासन्ती के ऋण का भार बराबर बढ़ता ही जा रहा है। उस ऋण से छुटकारा पाने के लिए क्या मैंने अभी तक कोई उपाय किया है? कृतज्ञता का एक शब्द भी तो उसे कभी मुझसे सुनने को नहीं मिला? ऐसी दशा में वही मेरे पास क्या आने लगी?

परन्तु प्रयाग में रहते समय वासन्ती जो इस प्रकार का शान्त, शिष्टतापूर्ण तथा निःसङ्कोच व्यवहार किया करती थी और पति का कोई ख्याल न करके अपनी धुन में जो सारा काम-काज करती रहती

थी उसके कारण सन्तोष बड़े आश्चर्य में पड़ गया था। वह बार-बार सोचता कि उस दिन वह इतनी आसानी से अपना सारा अधिकार त्याग कर क्यों चली आई थी? उसकी ओर से जो कुछ कहना था वह सब सुषमा ने ही कहा था। वासन्ती ने तो उसके सिवा एक शब्द भी अपने मुंह से नहीं कहा था। सुषमा के द्वारा भी उसका जो कुछ अभिप्राय ज्ञात हुआ है उसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं था। उसका केवल घर चल कर रहने भर के लिए मुझसे अनुरोध था। उस दिन क्या मैंने उसके उस अनुरोध पर कर्णपात किया था? तब आज जब उसकी ओर से कोई उद्योग नहीं है, मैं ही एक प्रार्थी के रूप में उसके सामने जाकर कैसे खड़ा होऊँगा? नहीं, यह तो मुझसे न हो सकेगा।

सन्तोष ने इस तरह का निश्चय कर तो लिया, किन्तु साथ ही वह यह भी सोच रहा था कि वासन्ती ने किस लिए मुझे इस प्रकार के आदर्श के रूप में चित्रित किया है? मैं तो उसके योग्य नहीं हूँ। जिस भोग की लालसा को हृदय में स्थान देकर मैं साध्वी पत्नी का परित्याग कर आया हूँ, मेरे किये हुए पापों की निदारुण यन्त्रणा के कारण जिसका हृदय क्षत-विक्षत हुआ जा रहा है, वही पत्नी जब यह बात जान पावेगी कि मेरा हृदय दूसरी स्त्री के प्रति भी आसक्त हो चुका है तब उसके हृदय की क्या दशा होगी? तब तो उसका हृदय अत्यधिक वेदना के कारण क्षत-विक्षत हो जायगा। उसने अपने विश्वासी और निष्पाप हृदय में स्वामी के पवित्र और उज्ज्वल आदर्श का जो चित्र अङ्कित कर रक्खा है, वह क्या निमेषमात्र में ही न मिट जायगा? नहीं, नहीं, वासन्ती मुझसे घृणा करेगी, वह यह न सहन कर सकेगी। बाद को जब कभी वासन्ती से मेरी मुलाक़ात होगी, तब मैं स्वयं जाकर सारी बातें उससे कहूँगा। उसके लिए वासन्ती मुझे जो कुछ कहेगी, वह सब मैं अपने कान से सुन लूँगा। उसके बाद---उसके बाद मैं अपने मार्ग का अपने आप ही अवलम्बन कर लूँगा।

———

चौंतीसवाँ परिच्छेद

आशा और निराशा

वासन्ती गिराजगंज चली आई थी। इस बार उसकी तबीयत वहाँ बिलकुल ही नहीं लगती थी। बात यह थी कि बुआ जी की बीमारी के कारण चमेली इस बार उसके साथ आ नहीं सकी थी। इधर ताई जी का भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, इससे वे प्रायः एकान्त में ही पड़ी रहती थीं, वासन्ती अकेले में पड़ी-पड़ी बहुत घबराया करती थी। अन्त में उसने निश्चय किया कि थोड़े दिनों के लिए सुषमा के ही यहाँ हो आऊँ।

जिन लोगों का संसार कभी सूना नहीं हुआ, भला वे लोग इस विशाल जगत् के सूनेपन का अनुभव कैसे कर सकेंगे? इस तरह के सूनेपन में किसी का साथ पाने के लिए मनुष्य को किस तरह की बेकली होती है, अपने प्रिय जनों से मिलने के लिए वह किस तरह पागल हो उठता है, इस बात को वे नहीं समझ सकते। कोई साथी न होने के कारण वासन्ती का जीवन आजकल बहुत ही कष्टमय हो उठा था। उसके लिए तो एक-एक दिन, एक-एक रात पर्वत-सी होती जा रही थी, बीतने में ही नहीं आती थी। यही कारण था कि सुषमा के लिए उसका व्याकुल हृदय बहुत ही अधीर हो उठा था। जो लोग अन्तः-करण से इस बात का अनुभव करते रहते हैं कि मेरे लिए किसी प्रकार का भी अवलम्बन या आश्रय नहीं है, उनका समय किस प्रकार व्यतीत हुआ करता है, यह अन्तर्यामी के सिवा और कोई भी नहीं समझ सकता। दिन के प्रकाश का अन्त हो जाने पर जब यह जगत् रात्रि के अन्धकार से ढँक जाता तब रात्रि व्यतीत करना वासन्ती के लिए बहुत ही अधिक

यन्त्रणादायक हो उठता। जिस समय सन्ध्या रानी मस्तक से लेकर पैर की एँड़ी तक काले आवरण से ढँके हुए आकर दर्शन देतीं, उस समय भीतर ही भीतर उसके अन्तःकरण में भी एक विराट् अन्धकार की सृष्टि हो उठती। हृदय के सबसे एकान्त कोने में भी यदि कहीं थोड़ी-बहुत आलोक-रश्मि के छिपी रह जाने की सम्भावना थी, वहाँ भी वह अन्धकार दौड़ जाता। वासन्ती के हृदय का कोई भी ऐसा कोना न रह जाता जो अमावस्या की रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार से परिपूर्ण न हो उठता। हृदय में उस समय किस प्रकार की बेकली का तूफ़ान आ जाता, यह वह स्वयं भी न समझ पाती।

असह्य दुःख की अतिशयता के कारण अन्तरात्मा जब विक्षिप्त हो उठती, रात भर में एक मिनट के लिए भी नींद न आ सकने पर जब अविराम अश्रुधारा से वह तकिया भिगो देती, उस समय उसके मन में आता कि प्रियजनों से विहीन इस पत्थर की अट्टालिका में अपना ऐसा कोई नहीं है जो मेरे दुःख के अंश को ग्रहण करता।

अतीत की स्मृति दुःख सहन करने में मनुष्य के लिए बहुत सहायक होती है। यदि अतीत न होता तो वर्त्तमान का दुःख सहन करना सम्भव ही न होता। वासन्ती भी मन ही मन अपने अतीत जीवन पर विचार किया करती थी। इस विशाल अट्टालिका में निवास करते समय उसे मामा का क्षुद्र कुटीर प्रायः याद आया करता। वह अनुभव किया करती कि मामी के कठोर शासन के कारण भी मेरा शरीर और मन इस तरह जीर्ण नहीं हो सका था। रात-दिन मामा के परिवार के लोगों की सेवा-शुश्रूषा में लगी रहने पर भी वह मन में कभी क्लान्ति या कष्ट का अनुभव नहीं करती थी। समस्त दिन के परिश्रम के बाद खुले मैदान में खड़ी होकर जब वह अपनी बाल्य सहचरियों के साथ लुका-छिपी खेलती फिरती तब उसका क्षुद्र हृदय कितने आनन्द से नहीं परिपूर्ण हो उठा करता था। परन्तु आज ऐश्वर्य्य के उच्च आसन पर विराजमान होने पर भी चारों ओर की मुक्त वायु वासन्ती का श्वास क्यों रुद्ध करती

जा रही थी? संसार में क्या भोजन-वस्त्र मिल जाने में ही नारी-जीवन की सार्थकता है? यह विशाल, शान्त, निस्तब्ध, निर्मम और निष्ठुर अट्टालिका ही क्या स्वर्ग है?

वासन्ती तन्मय होकर इन्हीं सब बातों पर विचार कर रही थी। एकाएक उसकी एक लम्बी साँस निकल पड़ी। बाद को स्वर्ग को गये हुए श्वशुर के प्रति वह मन ही मन कहने लगी—इस अभागिनी को दुर्भाग्य के आवरण से बचा कर आप सोने के पींजड़े में क्यों बन्द कर ले आये हैं? ऐसा करके क्या आप इसके अदृष्ट की गति फेरने में समर्थ हो सके हैं

ज्ञान का उदय होने के साथ ही साथ जिसकी चिन्ता से हृदय परिपूर्ण हो उठता है, आठों पहर काम-काज के समय भी जिसकी मूर्ति हृदय में अचल और अटल भाव से विराजमान रहती है, वही प्राणी यदि स्वेच्छा से दूर हट जाता है तो उस अवस्था में जगत् किस तरह सर्प के विष से परिपूर्ण हो उठता है, यह समझा कर बतलाने की बात नहीं है।

जीवन के लिए जो अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है, जो सबसे अधिक काम्य वस्तु है, वह है प्रियजन का प्रीतिलाभ!—क्या यह सभी नारियों के भाग्य में बदा होता है? किन्तु यदि किसी नारी का भाग्य इतना प्रबल हुआ कि वही प्रियतम जीवन भर की निराशा की व्यथा को अपनी अविराम प्रेम-धारा से तृषित हृदय को तृप्त करके शान्त कर देता है तो वह नारी देवताओं की कान्ति से देदीप्यमान शुभ्र स्वर्गवास दिव्यचक्षु से देखने में समर्थ हो पाती है। जिसके भाग्य के खोटेपन के कारण वह दिन उदय होकर भी यदि अमावस्या की रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार से आच्छादित हो उठे तो क्या उसके लिए यह दुःख रखने का स्थान मिलना कहीं सम्भव है? वासन्ती का भी वह शुभ दिन बहुत दिनों की साधना के बाद सिद्धि के पथ पर अग्रसर हो रहा था। परन्तु बीच में न जाने कौन-सा ऐसा प्रलय का तूफ़ान आया कि वासन्ती के उस शुभ दिन को वह

अनन्त के पथ पर उड़ा ले गया। वासन्ती उसे किसी प्रकार भी समझ न सकी।

आशा के ही बल पर विशाल धरणी के समग्र नर-नारी किसी प्रकार जीवन धारण किये रहते हैं। यदि आशा का अवलम्बन न होता तो वर्त्तमान के असह्य और दुःखमय दिनों को व्यतीत करते जाना किसकी शक्ति का काम था? दुःख के बाद सुख भी आ सकता है, इस भरोसे पर ही हम वर्त्तमान के दुःख, क्लेश और यातना को सहन करते हुए किसी प्रकार जीवित रहते हैं। यदि कोई आदमी महासागर में डूबते समय मुट्ठी भर घास भी पा जाता है तो उसे बड़े जोर से पकड़ता है; सोचता है कि शायद इसके सहारे से मैं बच सकूँगा। ठीक इसी प्रकार निराश हृदय में दूसरे व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त की हुई सान्त्वना ही आशा का सञ्चार करती है। परन्तु एकमात्र जिसकी चरण-सेवा करना ही नारी की कामना का विषय हो सकता है, जिसकी अलौकिक प्रीति ही नारी की एकमात्र तपश्चर्या है, जिसका ध्यान ही नारी-जीवन का चरम लक्ष्य है, उसी एकमात्र आराध्य देवता को यदि न प्राप्त किया जा सके तो किस अपरिसीम यन्त्रणा से नारी का हृदय भग्न हो उठता है, यह बात व्यक्त करने की शक्ति किसमें है?

निराशा की घनघोर घटाओं में वासन्ती के दिन कटे जा रहे थे—उसी समय एक दिन एक दुःखमय समाचार पाकर वह स्तम्भित हो उठी। सुषमा का पत्र आने पर मालूम हुआ कि उसकी माता की मृत्यु हो गई; इससे वह बहुत उद्विग्न हो उठी है। सुषमा ने लिखा था—"मा मेरे लिए क्या थीं, यह बात तू ही जानती है। आज उन्हें खोकर मैं किस तरह दिन काट रही हूँ, यह लिख कर मैं तुझे नहीं सूचित कर सकती। जरा दिन के लिए तू मेरे पास आ जा। आज-कल मैं कितने कष्ट से—" केवल इतने ही शब्दों में वह पत्र समाप्त हो गया था। वह अधूरी ही चिट्ठी वासन्ती के पास भेजी गई थी।

सुषमा का पत्र लेकर वासन्ती ताई जी के पास गई। उन्हें उसने सारा हाल बतलाया और उनका परामर्श लेकर सुषमा के यहाँ जाने के लिए वह तैयारी करने लगी। ताई जी ने बहुत ही क्षीण और दुःखमय कण्ठ से कहा---मैं देखती हूँ बिटिया, कि तुम्हारा यह जीवन गली-गली की राख छानने में ही बीतेगा। दो दिन शान्तिपूर्वक बैठ सको, इतना भी तुम्हारे भाग्य में नहीं बदा है। छः मास इधर-उधर बिता कर अभी ही आई हो। दो मास भी नहीं व्यतीत हो पाये कि यह विपत्ति आ खड़ी हुई। परन्तु परिस्थिति ऐसी है बिटिया कि तुम्हारा न जाना भी ठीक न होगा। उस लड़की ने बुरे दिनों में तुम्हारी बड़ी सहायता की है। अहा, बेचारी ऐसा भी भाग्य लेकर पृथ्वी पर आई थी! मा थी, भगवान् ने उसे भी---ताई जी की आँख की पलकें भीग गईं। वे अञ्चल से आँसू पोंछने लगीं।

वासन्ती उस समय सोच रही थी कि मेरे समान भी क्या कोई दुर्भागिनी है। कितना समय तो बीत गया, आशाहीन, उद्देश्यहीन व्यर्थ जीवन का भार लादे-लादे मैं कहाँ-कहाँ नहीं घूम आई हूँ? परन्तु इस यात्रा का फल क्या हुआ? क्या इससे जरा-सी शान्ति, जरा-सी तृप्ति या इसी प्रकार की और ही कोई वस्तु संचित कर सकी हूँ? केन्द्र से च्युत हुए ग्रह के समान ही विशाल जगत् में गृह-हीन और नष्टाश्रय होकर क्या मैं नहीं घूमती फिर रही हूँ? क्या इस गति के वेग से कोई मुझे लौटाल ले आ सकेगा? गति के पथ पर ग्रह चलता है अवश्य, किन्तु उसका भी एक स्थिर, निर्दिष्ट पथ होता है। मेरा क्या इस प्रकार का कोई पथ है? है केवल लक्ष्यहीन, उद्देश्यहीन शून्य जीवन को किसी प्रकार व्यतीत करना।

यात्रा के दिन प्रातःकाल वासन्ती को चमेली का एक पत्र मिला। उससे उसे मालूम हुआ कि बुआ जी इस समय भी पूर्णरूप से आरोग्य नहीं हो सकी हैं। उन्हें मन्द मन्द ज्वर होता है, भोजन का परिपाक नहीं होता, इसी तरह की कुछ शिकायतें और हैं। सभी लोगों का यह विचार

है कि उन्हें देहरादून घुमा ले आया जाय। परन्तु पिता के पास चमेली का रहना आवश्यक है, इसलिए उसकी माता के साथ वासन्ती वहाँ जा सके तो बड़ा अच्छा हो। उसके पिता की भी यही राय है। अतएव वासन्ती को यदि जाना स्वीकार हो तो यात्रा का प्रबन्ध किया जाय। उसका उत्तर मिल जाने पर ही यात्रा का दिन स्थिर किया जायगा।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

सुषमा का ब्रह्मचर्य

कलकत्ता पहुँच कर वासन्ती पहले सुषमा के ही बँगले पर उतरी थी। परन्तु वहाँ उसे कोई नहीं मिल सका। तब उसने माली को भेज कर अपने मामा को बुलाया। माली से ही उसे यह भी मालूम हो गया कि इधर महीने भर से सुषमा आश्रम में ही वास करती है। इसलिए मामा के साथ वह आश्रम की ओर चली।

गाड़ी आश्रम में पहुँची। वासन्ती ने देखा तो कैसा एक शान्त, स्निग्ध और पवित्र भाव उस स्थान की चारों दिशाओं को मनोरम किये हुए था। आश्रम में किसी भी स्थान पर गन्दगी नाम तक को न थी। स्थान निर्वाचित करने के सम्बन्ध में सुषमा की क्षमता देखकर वासन्ती मन ही मन आश्चर्य में आ गई। इस कोलाहलपूर्ण नगरी में इस तरह का नीरव और निर्जन स्थान सुषमा ने किस तरह खोज निकाला, यह वासन्ती की समझ में नहीं आ रहा था।

आश्रम के लिए बने हुए विशाल भवन के सायबान में आकर गाड़ी खड़ी हुई। वासन्ती उतर पड़ी और मामा के बुलाने पर ज़ीने से होकर ऊपर की ओर चली। ज़रा ही दूर आगे बढ़ने पर उसने देखा कि एक सुथरे कमरे में सुषमा बैठी हुई है। उस समय उसके शरीर पर एक धुली हुई गेरुआ रंग की साड़ी थी। मृगचर्म पर आसन लगाय वह सामने बैठी हुई छात्राओं को गीता पढ़ा रही थी। उस समय दूर से देखने पर वह देव-कन्या-सी जान पड़ रही थी। उसके लम्बे-लम्बे और खोल देने पर घुटने तक लटक आनेवाले काले-काले किन्तु रूखे बाल पीठ पर बिखरे हुए थे। नीले कमल के समान सुन्दर और कान तक फैले हुए उसके दोनों ही

बिशाल नेत्र कैसी एक पवित्र ज्योति से उद्भासित हो उठे थे। सुषमा की, अग्नि की शिखा के समान तपस्विनी मूर्ति देखकर वासन्ती अनुभव करने लगी, मानो वह सौन्दर्य्य के एक नये जगत् में आ गई है। उसके मन में यह बात आई कि बहुमूल्य वेशभूषा में भी सुषमा का इस तरह का सौन्दर्य्य कभी उसके देखने में नहीं आया। जिसे देखकर वासन्ती हक्का-बक्का हुई जा रही थी, वह प्रसन्न भाव से बैठी हुई एकाग्रचित्त से छात्राओं को गीता के श्लोक पढ़ा-पढ़ा कर उन्हें उनका सारांश समझा रही थी—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥"

"जिस तरह कपड़ा फट जाने पर आदमी उसे उतार कर नया कपड़ा पहन लेता है, उसी तरह जीव भी एक शरीर पुराना हो जाने पर उसे छोड़ देता है और नया शरीर धारण करता है, अर्थात् पुनर्जन्म होता है।"

सुषमा के मुंह से निकले हुए गीता के ये वाक्य वासन्ती के कानों में अमृत की वर्षा कर रहे थे। वह सोचने लगी, हाय! सभी लोग यदि ज्ञानी जनों के पथ का अनुसरण करते तो जगत् में दुःख नाम की कोई वस्तु ही न रह जाती।

कुछ ही क्षणों के बाद वासन्ती कमरे के द्वार के पास आ पहुँची। चौखट के पास उसने जैसे ही पैर रक्खा, सुषमा के साथ उसका दृष्टि-विनिमय हुआ। वासन्ती को देखते ही वह दौड़ पड़ी। आँसुओं के कारण उसकी आँखें अन्धी हो गई। रुद्ध कण्ठ से सुषमा ने कहा—तू आ गई? यह केवल मुहूर्त्त भर की बात थी। बाद को वह कटी हुई लता के समान वासन्ती की गोद में लोट पड़ी। खुल कर रोने का अवसर मिल जाने के कारण उसके अन्तःकरण की ग्लानि बहुत कुछ कम हो आई।

तब उसने रुद्ध कण्ठ से फिर कहा—"बासन्ती दीदी, मेरा क्या गया है—जानती—"

आँसुओं की धारा फिर उमड़ आई। वह जो कुछ कहने जा रही थी वह फिर न कह सकी। तब वे दोनों नीरव भाव से रोने लगीं।

बासन्ती को लेकर सुषमा एक ऐसे एकान्त कमरे में गई थी, जो बिलकुल ही अन्धकारमय था। उसी अन्धकारमय कमरे में बैठी-बैठी बासन्ती कहने लगी—दीदी, इस तरह दिन व्यतीत करके आप कितने दिनों तक जीवित रह सकेंगी ?

स्निग्ध कण्ठ से सुषमा ने कहा—क्यों बासन्ती, तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात देखी ?

कातर कण्ठ से बासन्ती ने कहा—कौन-सी बात बतलाऊं दीदी ? शरीर के ऊपर जितने प्रकार के भी अत्याचार किये जा सकते हैं उनमें से क्या आप कुछ बाक़ी रक्खे हैं ? इस तरह करते रहने पर शरीर कितने दिनों तक टिक सकेगा ?

बासन्ती की यह बात सुनते ही सुषमा के दुःख का आवेग उमड़ आया। भर्राई हुई आवाज़ से वह कहने लगी—अब जीवित रह कर क्या करूँगी बासन्ती ? जिनके लिए शरीर की रक्षा करती थी वे ही जब छोड़कर चली गईं तब इस शरीर को सुरक्षित रखने की क्या आवश्यकता है ? अब तो जिस तरह भी जल्दी से जल्दी मा के पास पहुँच सकूं, वही उपाय मुझे करना चाहिए न ? और यदि सच बात पूछो तो मा को खो देने के बाद अब मेरी जीवित रहने की इच्छा नहीं है। मा मेरी क्या थीं, यह बात अब मैं ख़ूब समझ रही हूँ। मा के न रह जाने पर बाबू जी भैया के पास चले गये हैं। ज़रा तुम्हीं न सोचकर देखो बासन्ती, और कितना कष्ट सहन कर सकती हूँ मैं ?

बासन्ती ने पूछा—तो क्या तुम इसी तरह सारा जीवन व्यतीत कर दोगी दीदी ? विवाह न कर लो दीदी ?

सुषमा ने कहा—अब विवाह करने की क्या आवश्यकता है वासन्ती ? मा की बड़ी इच्छा थी मेरा विवाह कर देने की। उनके जीवनकाल में जब विवाह नहीं हो सका तो अब क्या होगा ? इसके सिवा मैं तो वन की पक्षी हूँ। मैं क्या पिंजड़े में बन्द होकर रह सकूँगी ?

"तो भी दीदी, क्या किसी अवलम्बन के बिना मनुष्य रह सकता है ?"

सुषमा ने ज़रा-सी मुस्कराहट के साथ कहा—क्यों वासन्ती, तुम्हीं ने तो मुझे अवलम्बन का मार्ग दिखला दिया है। अब ये अनाथ ही मेरे लिए सब कुछ हैं। इनके पीछे सारा दिन किस तरह जल्दी से जल्दी कट जाता है, यह मैं समझ ही नहीं पाती हूँ। मुझे तो अब किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं है। अब मैं रात-दिन इन्हीं की चिन्ता में पड़ी रहती हूँ। जगत् में जितने भी अनाथ और अनाथिनें हैं, वे सभी तो मेरी सन्तानें हैं। मैं तो इस समय जगत् की माता हूँ। मैं तो अव अपनी नहीं रह गई हूँ।

ज़रा-से विराम के बाद सुषमा ने फिर कहना आरम्भ किया। वह कहने लगी—बाबू जी जब मुझे छोड़कर जा रहे थे, तब मैं बहुत रोई थी वासन्ती ! उस समय उन्होंने मुझसे कहा था—तू तो अब अपने आपको नये रूप में गढ़ कर बना रही है बिटिया। मैंने तो तुम्हें केवल अपने ही लोगों से माया-मोह करना सिखलाया नहीं ! तुम्हें तो मैंने यह सिखलाया है कि तू जगत् को स्नेह की दृष्टि से देख, जगत् में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी को अपना समझ। ऐसी दशा में आज एक ही दिशा की ओर तेरा आकर्षण क्यों हो रहा है ? तेरे बुभुक्षित हृदय में जितना भी स्नेह-ममता का भाव है, वह सब जगत् के अनाथ शिशुओं के ऊपर बिखरा दे। तब देखना कि वहाँ वही तेरे खोए हुए माता-पिता फिर मिल जाते हैं या नहीं।

इतना कह कर सुषमा गम्भीर हो गई। वह कहने लगी—वासन्ती, पिता जी की आज्ञा मेरे लिए भगवान् की आज्ञा है।

वासन्ती सुषमा के गले में लिपट गई। उसकी उस समय की अवस्था के कारण उसे बड़ी वेदना हो रही थी। विषादमय स्वर से वह कहने लगी---दीदी---

वासन्ती का सूखा हुआ और विषादमय मुख अपने वक्ष पर रख कर स्नेहार्द्र कण्ठ से सुषमा ने कहा---क्या कहती है वासन्ती ?

"मैं न जाऊँगी ?"

आलिङ्गन में आबद्ध करके सुषमा ने कहा---छिः बहिन, क्या यह तुम्हारे लिए उचित है ? चमेली दीदी की चिट्ठी तो देखी है न ? मैं तुझे समझा-बुझा कर किसी न किसी तरह भेज दूँ, इसी बात पर उन्होंने ज़ोर दिया है। इस समय यदि तू न जायगी तो वे लोग कहेंगे कि मैंने ही तुझे रोक रक्खा है। तू तो बुद्धिमती है। इस तरह का पागलपन का काम क्यों कर रही है ? बुआ जी की तबीअत अच्छी नहीं है, इस समय उनकी सेवा-शुश्रूषा करना तेरा कर्त्तव्य है ! तेरे लिए वे कितनी चिन्ता किया करती हैं, यह तू अच्छी तरह जानती है। उनकी बीमारी के समय क्या तेरा न जाना उचित होगा ? विशेषतः ऐसी परिस्थिति में जब कि वहाँ के लोगों ने बुला भेजा है। तुझे छोड़ने में मुझे स्वयं कितना क्लेश हो रहा है, यह मैं किस तरह समझाऊँ वासन्ती ?

वासन्ती ने कहा---परन्तु मुझे तो वहाँ जाना इस समय बिलकुल नहीं अच्छा लग रहा है दीदी।

सुषमा ने कहा---अच्छा न लगने पर भी अच्छा लगाना पड़ेगा। इस समय तू इतनी नासमझी का काम क्यों कर रही है वासन्ती ? यह जगत् भी कभी-कभी भूकम्प आने पर डगमग हो उठता है, परन्तु तुझे तो मैंने डगमग होते कभी नहीं देखा। तूने तो अपने हृदय को पत्थर की तरह कड़ा कर लिया था। परन्तु आज ऐसी बात क्यों कर रही है ?

सुषमा ने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा---देखो वासन्ती, मनुष्य का

कर्त्तव्य है कि वह हर अवस्था में नीति से काम ले। समीप रहते रहते यदि तू विरक्त हृदय को गृहस्थ बना सके तो इसमें हानि ही क्या है? अपने से आकर्षण उत्पन्न करना क्या उचित नहीं है? वासन्ती, छोटी बहन मेरी, तूने तो किसी दिन भी मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं किया। क्या आज मेरे अनुरोध पर ध्यान न देगी बहिन? यह तेरे लिए बहुत ही अनुकूल अवसर है, माहेन्द्रक्षण है, इसे न जाने दे।

यह कहकर सुषमा चुप हो गई। वासन्ती उसके प्रति जो अगाध ममता का भाव प्रकट कर रही थी उसके कारण उसके प्रति सुषमा की बड़ी श्रद्धा हो रही थी। वह सोचने लगी कि वासन्ती के साथ मेरा सम्बन्ध ही क्या है? यही दो दिन का परिचय तो है। इतने में ही वह मुझसे इस तरह का स्नेह क्यों करने लगी? परन्तु क्षण ही भर के बाद उसके मन में फिर आया कि स्नेह करना तो वासन्ती का स्वभाव ही है। क्या वह निष्ठुर है? वह मुझे छोड़कर जाना नहीं चाहती, मैं जोर देकर उसे भेज रही हूँ। परन्तु जाना उसका कर्त्तव्य है।

उस समय सुषमा बहुत ही गम्भीर थी। सारी परिस्थिति उसकी आँखों के सामने मूर्तिमान् होकर नाचने लगी। उसके हृदय पर रह रह कर उदित हो रहा था उस दिन का सन्तोष का व्यवहार। वह सोच रही थी कि उस दिन सन्तोष भाई ने कैसा असभ्यतापूर्ण व्यवहार किया था। हाय रे पुरुष! तुम्हारी बातें तुम्हीं को मालूम हैं। आरम्भ-काल से ही तुम लोगों में इस प्रकार की प्रथा चली आ रही है। स्त्रियों के ऊपर अत्याचार करने में तुम सदा ही सिद्धहस्त रहे हो!

सुषमा के विषादमय मुख की ओर ताक कर वासन्ती ने कहा—मैं तुम्हारी बात न टालूँगी दीदी, तुम मुझे क्षमा कर दो।

सुषमा ने वासन्ती को अपने उच्छ्वसित हृदय से जोर से लगा लिया, और मन ही मन वह कहने लगी—यह क्या शान्ति है? यह क्या तृप्ति है? क्या है यह?

———

छत्तीसवाँ परिच्छेद

कानों का अपराध

साँझ का समय था। काम-काज से निवृत्त होने के बाद बासन्ती बुआ जी के कमरे में गई और कुछ चिट्ठियों का जवाब देने के लिए बैठी।

उन लोगों को देहरादून पहुँचे प्रायः पन्द्रह-सोलह दिन बीत चुके थे। इस बीच में सुषमा की दो-तीन चिट्ठियाँ आ चुकी थीं, सिराजगञ्ज से भी कई चिट्ठियाँ आई थीं। बासन्ती इनमें से एक का भी जवाब नहीं दे सकी। यहाँ नई जगह में आकर नई गृहस्थी जमाने में ही वह इधर कई दिनों तक व्यस्त रही थी, इससे इन चिट्ठियों का जवाब देने का उसे अवकाश नहीं मिल सका। आज ज़रा-सा अवसर निकालकर वह इन सबका जवाब देने के लिए बैठी। इतने में पासवाले कमरे से एक सुमधुर गीत सुनाई पड़ा। उस गीत का भाव इस प्रकार था—

"हे मेरे प्राणों के आधार, तुम्हें रिझाना मेरे लिए सम्भव नहीं है, तुम्हें प्रसन्न करके तुम्हारी कृपा का अधिकारी बनने के लिए मेरे पास कोई भी उपाय नहीं है। मेरे हृदय में कौन-सी बात है और अन्तःकरण में मैं किस प्रकार की व्यथा का अनुभव कर रहा हूँ, यह सब मैं तुमसे कुछ भी न कहूँगा। मैं केवल अपना जीवन और हृदय तुम्हारे चरणों में अर्पित करके ही चुप हुआ जा रहा हूँ। तुम अपनी सहृदयता के बल पर मेरी अवस्था का अनुभव कर लो।"

गायक के मुँह से निकले हुए गीत के गम्भीर भाव ने बासन्ती की चित्तवृत्ति को डाँवाडोल कर दिया। अनायास ही आँसू की बाढ़

उसके गालों पर कब बह चली, यह उसकी समझ में भी न आ सका। गायक चारों दिशाओं को गुञ्जायमान करता हुआ फिर गा उठा। उसके गीत की इस बार की पंक्तियाँ और भी अधिक भावपूर्ण और मर्मान्तिक थीं। वे इस प्रकार थीं—

"हे प्राणप्रिय, यदि मैंने तुम्हारे चरणों में अपराध किये हैं और वे अपराध क्षमा के योग्य नहीं हैं, उन अपराधों के लिए तुम मुझे क्षमा करना उचित नहीं समझते तो न सही। मैं यह नहीं चाहता कि तुम मुझे क्षमा ही कर दो। तुम मुझे दण्ड दो, प्रतिदिन नई-नई व्यथायें दो, जिससे समुचित प्रायश्चित्त हो जाय।"

जो गा रहा था उसका स्वर बहुत ही मधुर था। उसके कण्ठ से निकले हुए गीत की एक-एक कड़ी चारों दिशाओं में मादकता का विस्तार कर रही थी। वासन्ती बैठी तो थी चिट्ठियाँ लिखने, किन्तु सङ्गीत के मोहन-मन्त्र ने उसे अहल्या के समान पाषाण में परिणत कर दिया था।

ऊँची-नीची शिलाओं से संकुल नगाधिराज हिमालय का वह चरणप्रान्त था। जल से भरे हुए मेघों की श्याम-घटा से वह सुशोभित था। ऐसे मनोरम प्रदेश में मादकता का संचार करता हुआ अमृत का झरना फिर उफना उठा—

"परन्तु फिर भी मुझे दूर न भगा देना, मुझे नित्य नई-नई व्यथायें देकर भी, मेरे हृदय को सन्तप्त करके भी—मुझे दूर न कर देना। दिवस का अवसान होने पर मुझे अपने चरणों में बुला लेना। इस जगत् में तुम्हें छोड़कर मेरा अपना और कौन है? तुम्हारे बिना मेरे लिए यह विश्व-ब्रह्माण्ड मृत्यु की विभीषिका से परिपूर्ण है।"

सेफाली आकर वासन्ती के पीछे खड़ी थी, किन्तु वासन्ती को उसके आने की आहट तक नहीं मिल सकी थी। सेफाली जैसे ही वासन्ती के सामने धीरे-धीरे आकर खड़ी हुई, वासन्ती चौंक पड़ी।

सेफाली ने कहा—यह क्या है भाभी ? भैया का एक गीत सुनने से ही तुम्हें रुलाई आ गई ?

लज्जित होकर वासन्ती ने कहा—दुर !

सेफाली हँस पड़ी। वह कहने लगी—रोती तो हैं, फिर भी स्वीकार न करेंगी।

वासन्ती ने कहा—पता नहीं क्या बात है भाई, गीत सुनने से ही मुझे न जाने कैसी रुलाई आती है ?

वासन्ती को धमकी देती हुई सेफाली ने कहा—ठहरिए, ठहरिए, अभी मैं सबको बतलाये देती हूँ कि बड़े भैया का एक गीत सुनकर भाभी कमरे में बैठी हुई रो रही थीं।

वासन्ती सेफाली से अनुनय-विनय करने लगी। उसने बहुत ही विनम्रतापूर्ण स्वर में कहा—मैं तेरे पैरों पड़ती हूँ सेफाली, यह बात किसी से कहना मत। छिः, कहीं कोई इस तरह की बातें किसी से कहा करता है ? पता नहीं क्या बात है भाई, बाबू जी का श्राद्ध जब से हुआ है, तब से भिखमङ्गों तक के गीत सुनकर मुझे रुलाई आती है ? कहीं किसी तरह का गीत सुना नहीं कि रो-रोकर मरने लगती हूँ।

सेफाली कहने लगी—अच्छा भाभी, आप तो मुझसे बड़ी हैं न। आप मेरे पैरों पड़ने को क्यों कहती हैं ? क्या आप पागल हो गई हैं ?

इतना कहकर सेफाली कमरे से निकलने को ही थी कि वासन्ती ने उससे फिर कहा—देखो सेफाली, यह बात किसी से कहना मत, नहीं तो अच्छा न होगा। फिर मैं तुमसे जीवन-पर्यन्त नहीं बोलूँगी।

सेफाली 'नहीं' करके चली तो गई, किन्तु वह अपने वादे पर कहाँ तक क़ायम रही, यह उसी दिन रात्रि में वासन्ती को मालूम हो गया।

सन्तोष एक अच्छा गायक भी है, यह बात वासन्ती को नहीं मालूम थी। उसके साथ जब विवाह हुआ था तब से उसके सम्पर्क में आने तथा उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने का

सौभाग्य तो उसे कभी मिला नहीं, आज सेफाली के सम्मुख बैठा मन्तोष गा रहा था। वह गीत सुनकर वासन्ती पहले तो यह विश्वास ही नहीं कर सकी कि यह गीत उसके स्वामी का ही है। इतना मधुर जिसका कण्ठ है, इस तरह की करुणामय वेदना की धारा जिसके सङ्गीत में प्रवाहित हो रही हो, वह केवल मनुष्य का ही दुःख क्यों नहीं अनुभव कर पाता ?

इलाहाबाद में केवल फूफा जी और चमेली, यही दो आदमी रह गये थे। परिवार के और सभी लोग बुआ जी के साथ देहरादून चले आये थे। सेफाली के स्वामी शिशिर बाबू का भी शरीर अच्छा नहीं था, इसलिए वे भी इन लोगों के साथ आये थे। अनिल मा के साथ आया था, किन्तु वह कल ही जानेवाला भी था।

रात्रि में वासन्ती नन्दोई को पान देने के लिए उसके कमरे में गई। परन्तु उसके चौखट के भीतर पैर रखते ही शिशिर बाबू ने कहा—छिः भाभी जी, आज आपने रो दिया। भैया को तो जैसे ही यह बात मालूम हुई, उन्होंने गाना ही बन्द कर दिया।

वासन्ती बहुत ही लज्जित हुई। वह सोचने लगी कि उन्होंने भी मेरी इस दुर्बलता का हाल सुन लिया है। मैं द्वार बन्द करके क्यों नहीं बैठी थी ? बाद को जरा-सा लज्जित कण्ठ से उसने कहा—आप सुनने क्यों लगे ? वह सब झूठी बात है। सेफाली भी क्या क्या गढ़ती रहती है ?

"आप रो तो रही थीं, दोष उस बेचारी को देती हैं ?"

जरा-सी मुस्कराती हुई वासन्ती ने कहा—ठीक है बाबू साहब, अपने अपने फ़ायदे की बात सभी देखते हैं। दुलहिन का दोष भला कोई देख सकता है ?

वासन्ती के मुखमण्डल पर दृष्टि दौड़ाते हुए शिशिर बाबू ने कहा—करें क्या ? बतलाइए न। आप लोगों की आँखों का प्रहार ही ऐसा है! हम बेचारे विवाह के बाद से ही निस्तेज हुए रहते हैं। इसके सिवा

कोहबर में पाँसे खेलते समय की बात याद है न ? आप ही लोगों ने तो जोर करके प्रतिज्ञा करवा ली है।

इतने में सुजाता भी आ पहुँची। वह कहने लगी—ऐसे आज्ञाधीन भृत्य हर समय हर एक का मुख देख देखकर चलते हैं न।

"अब बतलाइए, इसमें क्या स्वीकार करूँ, क्या अस्वीकार करूँ।"

मृदु कण्ठ से वासन्ती ने कहा—आप लोग चाहे जो करें सब ठीक ही है ? दोष हमीं लोगों का है। देखो न सुजाता, बीबी साहब के पेट में बात नहीं पच सकी, झट से जाकर मियाँ जी के कान में डाल दिया।

शिशिर बाबू ने हँसकर कहा—जहाँ जोड़ी की जोड़ी सरस्वती आकर, विराजमान हैं, वहाँ मेरे जैसे बच्चे को पार लग सकता है। नहीं तो भैया वगैरह में से किसी को बुला ले आऊँ

हास्यमय स्वर में सुजाता ने कहा—ओहो, एकदम से नाबालिग हैं ! ये बेचारे क्या जाने सत्तू में गड्ढा करना ! कहाँ गये इनके गार्जियन साहब इस समय ?

मुँह दबाकर हँसते हँसते शिशिर बाबू ने कहा—लड़ाई ठानने के प्रबन्ध में हैं शायद। उन्होंने देख लिया कि जगह बेदखल हो जाने का प्रबन्ध हो रहा है, इसमे मा के पास—

सुजाता की ओर ताक कर वासन्ती ने कहा—देखा न सुजाता, नाबालिग की बातें सुन रही हो न ? करें क्या ? रात जो बढ़ती जा रही है। और देर होने पर कहीं हम लोगों को शाप में न पड़ना पड़े।

"उलटा धरा बाँध दिया न ! समय नष्ट हो रहा है आप लोगों का, दोष मढ़ दिया उलटा मेरे मत्थे पर।"

बाहर जाते जाते वासन्ती ने कहा—मेरी बात अलग है। अन्धे बनो, तुम्हारे लिए क्या रात क्या दिन। परन्तु छोटी बहू की—

कमरे से बाहर पैर रखते ही वासन्ती ने देखा कि बुआ जी को दवा देकर सन्तोष सदर की ओर लौटा आ रहा है। वासन्ती सोचने लगी कि

आज मैं क्यों इस तरह मुँहज़ोर हो गई। एक तो सेफाली ने ही आज मामला बना दिया है, तिस पर स्वामी ने भी आज यदि मेरी बातें सुन ली होंगी तो वे मुझे कितनी अशिष्ट समझेंगे।

वासन्ती शय्या पर जाकर लेट रही, परन्तु सारी रात उसे नींद नहीं आई। अपनी क्षण भर की दुर्बलता की बात सोच-सोच कर वह लज्जा के मारे मरी जा रही थी।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

चिकित्सा का फल

उस दिन तीसरे पहर सन्तोष-आदि घूमने के लिए निकले थे। साँझ नहीं हो पाई कि वे सब स्थान की ओर लौट पड़े। देहरादून की नदी में जल प्रायः नहीं रहा करता। परन्तु कभी-कभी एकाएक वह इतना बढ़ आती है कि उसे पार करना असम्भव हो जाता है। बात यह है कि उस नदी की धारा बड़ी तेज़ है। नदी में रंग-विरंगे पत्थर भी बहुत अधिक मिलते हैं। वे पत्थर बहुत ही सुन्दर होते हैं। कितने ही लोग तो उन्हें एकत्र करके घर ले जाते हैं। सन्तोष के दल के सभी लोग आगे निकल गये थे, केवल वासन्ती ही पीछे रह गई थी। नदी में उसने बहुत-से पत्थर संग्रह किये थे। उन सबको लेकर उतावली के साथ जैसे ही वह आगे की ओर चली, वैसे ही उसने पैर के तलवे में असह्य यन्त्रणा का अनुभव किया। अकस्मात् उसके मुंह से यन्त्रणा-सूचक 'हाय माई रे!' शब्द निकल गया। असह्य यन्त्रणा के कारण आगे पैर बढ़ाने में असमर्थ हो जाने पर वह वहीं नदी के बालू पर बैठ गई।

कुछ दूर बढ़ जाने के बाद बुआ जी को वासन्ती का ध्यान आया। वे कहने लगीं—क्या रे सेफाली, बड़ी बहू कहाँ हैं? उन्हें तो मैं नहीं देख रही हूँ। तुम लोगों की बुद्धि में तो पत्थर पड़ गया है। सबके सब भागे चले आ रहे हो, बहू की चिन्ता किसी को नहीं है।

यह कह कर वासन्ती को खोजने के लिए नदी के किनारे ही किनारे बुआ जी तेज़ी के साथ फिर लौट पड़ीं। तब सन्तोष ने कहा—"बुआ जी, आप यहीं खड़ी रहें, मैं देख आता हूँ।"

कुछ ही दूर जाने पर सन्तोष ने देखा तो वासन्ती बैठी थी। पहले वह उसके वहाँ पर बैठ जाने का कारण न समझ सका। समीप पहुँच जाने पर वह कहने लगा—यह क्या ? यहाँ बैठी हो ? क्या पैर में कुछ लग गया है ?

सन्तोष ने संध्या के धुँधले प्रकाश में देखा तो वासन्ती के पैर से ज़ोर से खून बह रहा था। हाथ से पैर दबाये हुए वासन्ती सिसक-सिसक कर रो रही थी। सन्तोष हाथ में अपना कोट लिये हुए था। उसे शीघ्र ही उसने भूमि पर रख दिया और वासन्ती का पैर पकड़ कर उसे देखने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु पैर के समीप तक सन्तोष का हाथ पहुँचते ही वासन्ती बहुत अधिक आपत्ति करने लगी। आँसुओं से रुँधे हुए कण्ठ से उसने कहा—आप पैर में हाथ न लगाइए, कोई वैसी बात नहीं है, मैं चलती हूँ।

सन्तोष ने धीमे स्वर से कहा—मुझे देखने दो। ऐसे समय में भी कहीं कोई किसी बात का ख़्याल करता है ? तुम्हें तो मालूम है कि मैं डाक्टर हूँ।

सन्तोष ने उत्तर की ओर प्रतीक्षा नहीं की। उसने एक हाथ में वासन्ती की पौली ले ली और दूसरे हाथ से सहला-सहला कर उसका तलवा देखने लगा। इस प्रकार उसने मालूम किया कि वासन्ती के पैर में बोतल का एक टुकड़ा गड़ गया है। तब उसने धीरे-धीरे उस टुकड़े को निकाला। जेब से उसने रूमाल निकाला और पानी में ज़रा-सा भिगो कर उसने उसी से घाव को बाँध दिया। परन्तु इससे रक्त बन्द नहीं हुआ। वासन्ती उठ कर खड़ी होने का प्रयत्न तो करने लगी, परन्तु उसे साहस न हो सका, इससे वह तुरन्त ही फिर बैठ गई।

अब सन्तोष निरुपाय हो गया। वासन्ती से उसने पूछा—तुम मेरी सहायता लोगी या और किसी को बुलाऊँ ?

वासन्ती ने रुद्ध कण्ठ से कहा—आपसे न हो सकेगा। सन्तोष

ने हास्यमय स्वर में कहा--जिन लोगों को बुलाऊँगा, शायद वे मुझसे अधिक बलवान् हैं!

इसके उत्तर में बासन्ती के मुंह से कोई बात निकलने से पहले ही सन्तोष ने सेफाली को पुकारा।

क्षण भर में ही आकर सेफाली ने कहा--क्या हुआ है भैया? यह क्या? भाभी बैठी क्यों हैं?

सन्तोष ने गम्भीर भाव से कहा--शीशे से पैर कट गया है। तेरी भाभी का विश्वास है कि तू बड़ी बहादुर है। अब देखता हूँ कि किस तरह तू उन्हें घर तक ले चलती है। किन्तु देखना इस समय भी रक्त बन्द नहीं हुआ है। बहुत सावधानी करने की आवश्यकता है।

लौट कर घर आने पर सेफाली ने अलम्यूनियम की एक कटोरी में पानी गरम किया। तब वह सन्तोष को बुलाने चली। कुछ औषधि-आदि लेकर सन्तोष बुआ जी के कमरे में जाकर बैठा। बासन्ती के पैर में जो रुमाल बँधा था वह घाव पर से हटा लिया गया। उजाले में देखने पर मालूम हुआ कि घाव कुछ बड़ा है। रक्त उस समय भी जरा-ज़रा करके निकल रहा था। बुआ जी ने आकर घाव को देखा। वे बहुत शङ्कित हो उठीं। बहू की दुखमय अवस्था उनसे देखी नहीं जाती थी, इससे वे तुरन्त ही कमरे से बाहर चली गईं।

बुआ जी जब चली गईं तब बासन्ती अपने हाथ से ही रुमाल खोलने लगी। यह देखकर सन्तोष ने कहा--रुमाल अपने आप खोल रही हो तब शायद डाक्टरी भी स्वयं ही कर लोगी?

वर्षा-काल में एक स्थान पर एकत्र होकर उमड़े हुए मेघों के समूह की तरह अत्यधिक विरक्ति के कारण बासन्ती का मुंह गम्भीर हो उठा। सन्तोष का यह व्यङ्गयमय वाक्यरूपी बाण बासन्ती के हृदय में विद्ध हो गया, फिर भी उसने अपने आपको बहुत कुछ संभाल लिया। जहाँ तक सम्भव था, बहुत ही धैर्य और संयम के साथ उसने

कहा—ज़रा-सा रेंड़ी का तेल लगा देने से ही अच्छा हो जायगा, और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

सन्तोष ने व्यङ्गमय स्वर से कहा—दवा के चुटकुले कब से सीख लिये हैं? डाक्टरी भी किया करती हैं क्या?

सन्तोष को इस तरह खिल्लियाँ उड़ाते देख कर वासन्ती ने कुछ वेदना का अनुभव किया। कम्पित-कण्ठ से वह कहने लगी—समय-समय पर आवश्यकता पड़ ही जाती है।

और बात बढाना सन्तोष ने उचित नहीं समझा। घाव की मरहम-पट्टी करने के विचार से वह वासन्ती की ओर बढ़ा। परन्तु उसके समीप आते ही रोक कर वह कहने लगी—ठहरिए, ठहरिए। मैं सब—

वासन्ती की इस बात से सन्तोष को मन ही मन बड़ा क्रोध आया। परन्तु हृदय के इस भाव को दबा कर धीर संयत कण्ठ से उसने कहा—वासन्ती, कौन-सी ऐसी बात है कि मैं तुम्हारे लिए जब कभी कुछ भी करने चलता हूँ, तुम रोक ही देती हो? कर्तव्य क्या केवल तुम्हारा ही है? तुम्हारे प्रति मैंने जो कुछ अनुचित व्यवहार किया है, क्या उसका प्रायश्चित्त अभी तक नहीं हो सका? मैं जानता हूँ कि मेरा अपराध क्षमा के योग्य नहीं है। तो भी, मैं समझता हूँ कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है।

आवेग के कारण सन्तोष का कण्ठ रुद्ध हो गया। जहाँ तक सम्भव था, उसने वासन्ती के घाव के भीतरी अंश की परीक्षा की, घाव को धोया, उसमें पट्टी बाँधी, तब बाहर की ओर चलने लगा। उसके दरवाज़े की ओर मुँह फेरते ही शिशिर भी मुस्कराता हुआ आ पहुँचा और कहने लगा—और चाहे कुछ भी हो भाभी जी, भैया से चरण-सेवा तो खूब करवा ली। इतने पर भी हम लोगों को बुरा कहती हैं।

सन्तोष ने कहा—स्वयं भगवान् ही जब इनके हाथ से निस्तार नहीं पा सके तब हम तो मनुष्य ही हैं।

यह कह कर सन्तोष बाहर चला गया। उसके साथ ही साथ शिशिर भी चला गया।

वासन्ती की दृष्टि में आज परिस्थिति बिलकुल विपरीत थी। कहाँ निदाघकाल की धू धू करके जलती हुई दावाग्नि और कहाँ इस प्रकार की शीतलता! इस प्रकार का घोर परिवर्तन किसने ला दिया? सात वर्ष के सुदीर्घ काल के बाद आज उसने पहले-पहल अपना नाम सुना। सुनकर पहले तो वह विह्वल हो उठी। धरित्री मानों उसके चरणों के नीचे से हटी जा रही थी। आज उसका यह क्षुद्र नाम ही उसकी दृष्टि में कितना अधिक सार्थक नहीं मालूम पड़ रहा था! इस नाम से तो कितने ही लोग उसे पुकारा करते थे। परन्तु आज इस मधुर सन्ध्या के स्निग्ध अन्धकार में स्वामी के हृदय के अन्तस्तल से आवेग के कारण रुँधे हुए कण्ठ से निकला हुआ यह प्रिय सम्बोधन उसके लिए कितना सुखकर था। कितने लोगों ने कितने बार कितने स्नेहमय स्वर में उसके नाम का उच्चारण किया है, किन्तु वह सम्बोधन उसके जीवन की शुष्क मरुभूमि को और किसी दिन भी तो पानी बरसा कर स्निग्ध नहीं कर सका। आज भी वासन्ती को स्वामी की बातें छल-प्रवञ्चना तथा उपहास से हीन नहीं मालूम पड़ रही थीं। फिर भी उसका हृदय सन्तोष के दोषों की ओर दृष्टिपात करने को तैयार नहीं था।

कहा—ज़रा-सा रेंड़ी का तेल लगा देने से ही अच्छा हो जायगा, और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

सन्तोष ने व्यङ्गमय स्वर से कहा—दवा के चुटकुले कब से सीख लिये हैं? डाक्टरी भी किया करती हैं क्या?

सन्तोष को इस तरह खिल्लियाँ उड़ाते देख कर वासन्ती ने कुछ वेदना का अनुभव किया। कम्पित-कण्ठ से वह कहने लगी—समय-समय पर आवश्यकता पड़ ही जाती है।

और बात बढ़ाना सन्तोष ने उचित नहीं समझा। घाव की मरहम-पट्टी करने के विचार से वह वासन्ती की ओर बढ़ा। परन्तु उसके समीप आते ही रोक कर वह कहने लगी—ठहरिए, ठहरिए। मैं सब—

वासन्ती की इस बात से सन्तोष को मन ही मन बड़ा क्रोध आया। परन्तु हृदय के इस भाव को दबा कर धीर संयत कण्ठ से उसने कहा—वासन्ती, कौन-सी ऐसी बात है कि मैं तुम्हारे लिए जब कभी कुछ भी करने चलता हूँ, तुम रोक ही देती हो? कर्तव्य क्या केवल तुम्हारा ही है? तुम्हारे प्रति मैंने जो कुछ अनुचित व्यवहार किया है, क्या उसका प्रायश्चित्त अभी तक नहीं हो सका? मैं जानता हूँ कि मेरा अपराध क्षमा के योग्य नहीं है। तो भी, मैं समझता हूँ कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है।

आवेग के कारण सन्तोष का कण्ठ रुद्ध हो गया। जहाँ तक सम्भव था, उसने वासन्ती के घाव के भीतरी अंश की परीक्षा की, घाव को धोया, उसमें पट्टी बाँधी, तब बाहर की ओर चलने लगा। उसके दरवाज़े की ओर मुँह फेरते ही शिशिर भी मुस्कराता हुआ आ पहुँचा और कहने लगा—और चाहे कुछ भी हो भाभी जी, भैया से चरण-सेवा तो खूब करवा ली। इतने पर भी हम लोगों को बुरा कहती हैं।

सन्तोष ने कहा—स्वयं भगवान् ही जब इनके हाथ से निस्तार नहीं पा सके तब हम तो मनुष्य ही हैं।

यह कह कर सन्तोष बाहर चला गया। उसके साथ ही साथ शिशिर भी चला गया।

वासन्ती की दृष्टि में आज परिस्थिति बिलकुल विपरीत थी। कहाँ निदाघकाल की धू धू करके जलती हुई दावाग्नि और कहाँ इस प्रकार की शीतलता! इस प्रकार का घोर परिवर्तन किसने ला दिया? सात वर्ष के सुदीर्घ काल के बाद आज उसने पहले-पहल अपना नाम सुना। सुनकर पहले तो वह विह्वल हो उठी। धरित्री मानों उसके चरणों के नीचे से हटी जा रही थी। आज उसका यह क्षुद्र नाम ही उसकी दृष्टि में कितना अधिक सार्थक नहीं मालूम पड़ रहा था! इस नाम से तो कितने ही लोग उसे पुकारा करते थे। परन्तु आज इस मधुर सन्ध्या के स्निग्ध अन्धकार में स्वामी के हृदय के अन्तस्तल से आवेग के कारण रुँधे हुए कण्ठ से निकला हुआ यह प्रिय सम्बोधन उसके लिए कितना सुखकर था। कितने लोगों ने कितने बार कितने स्नेहमय स्वर में उसके नाम का उच्चारण किया है, किन्तु वह सम्बोधन उसके जीवन की शुष्क मरुभूमि को और किसी दिन भी तो पानी बरसा कर स्निग्ध नहीं कर सका। आज भी वासन्ती को स्वामी की बातें छल-प्रवञ्चना तथा उपहास से हीन नहीं मालूम पड़ रही थीं। फिर भी उसका हृदय सन्तोष के दोषों की ओर दृष्टिपात करने को तैयार नहीं था।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

मीमांसा

रात्रि अधिक व्यतीत होने पर ज़रा-जरा ठण्डक मालूम पड़ने लगी, इससे सन्तोष की निद्रा भंग हो गई। गले में कुछ पीड़ा हो रही थी, इससे उसने बत्ती जलाई और फलालेन का मफ़लर खूब कस कर बाँध लिया। बाद को शय्या पर वह फिर लेट गया।

सन्तोष शय्या पर लेट तो गया किन्तु निद्रा-देवी एकदम से ही उसका परित्याग करके चली गई थीं। इससे वह जागता ही रह गया। उस समय उसके हृदय पर आकर एक दूसरे ने अपने आधिपत्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया था। वह थी चिन्ता। चिन्ता के साथ ही साथ आज इतने दिनों से परित्याग की हुई उपेक्षिता पत्नी की वही अस्पष्ट किन्तु मधुर वाणी—'अन्धे जागो, तुम्हारे लिए क्या रात, क्या दिन' रह रह कर उसके स्मृतिरूपी सागर के तल-देश को मथित करके उदित हो रही थी। एकाएक हृदय में वह एक प्रकार के अभाव की वेदना का अनुभव करने लगा।

सन्तोष ने इतना जीवन इसी तरह तो शून्य शय्या पर सो सो कर व्यतीत किया है, परन्तु उसे इस अकेलेपन ने कभी ज़रा भी क्लेश नहीं पहुँचाया। आज इतने दिन के बाद यह एकान्त शय्या उसके चित्त को व्याकुल कर रही थी। उसके अन्तःकरण में कोई बहुत ही प्रबल शक्ति इतने दिनों तक छिपी थी, जो आज उदित होकर उसे दुर्बल किये डालती थी। उसके शरीर की सभी शिराओं से मानो रक्त की तीव्र धारा प्रवाहित हो रही थी। अङ्ग के सभी अंश मानो विद्रोही हो रहे थे। इतने दिनों से जो चित्तवृत्तियाँ रोक रक्खी गई थीं, आज

मानो उनका बन्धन शिथिल हो गया था, इससे वे वासन्ती की खोज में दौड़ी जा रही थीं।

यह भी सन्तोष का अपने किये हुए पाप-कर्म का प्रायश्चित्त था। सन्तोष अनुभव करने लगा कि यह तो अभी आरम्भ ही है, इसका भी अन्त है, किन्तु वह बहुत दूर है। कितनी दूर है, यह कौन जाने ? इसके लिए वासन्ती को अपराधी ठहराने का तो कोई कारण नहीं है। उसके दाम्पत्य-जीवन में यह जो चीन देश का-सा विशाल प्राचीर खड़ा हो गया है, इसे तो स्वयं मैंने ही अपने हाथ से यहाँ बना कर खड़ा किया है।

सन्तोष के नेत्रों की निद्रा जहाँ की तहाँ हो गई। क्रमशः उसका माथा गरम हो गया। वह उठकर खिड़की के पास गया और वहीं खड़ा हो गया।

ये एक दुर्बला नारी थी, किन्तु कितनी असीम थी इसके अन्तः-करण की शक्ति, जिसके सामने पुरुष के कठोर हृदय का सङ्कल्प देखते ही देखते निरर्थक प्रमाणित हुआ ? मन की चञ्चलता के कारण सन्तोष क्रमशः भयभीत होता जा रहा था। हृदय के आवेग ने उसे इस तरह व्याकुल क्यों कर दिया था ? इतने दिनों तक जिस विकार के बादलों ने उसे ढँक रक्खा था, आज क्या वे बादल कटते जा रहे थे ? उसके मन की, शरीर की यह दुर्बलता कहाँ से आई थी ? अब वह क्या करे ? कहाँ जाय ?

जो पक्षी आहार की खोज में समस्त दिन आकाश-मण्डल में चक्कर लगाते फिरते हैं उन्होंने उस समय भी घोंसला नहीं छोड़ा था। पूर्णिमा के चन्द्रमा ने उस समय भी एकदम से मुँह नहीं छिपा लिया था। प्रभात का आलोक उस समय भी धरणी के वक्षःस्थल पर विस्तृत नहीं हो सका था। ऐसे समय में जब कि ज्योत्स्ना का धुँधला प्रकाश चारों दिशाओं में व्याप्त था, अत्यन्त प्रबल चिन्ता से मुक्ति पाने के लिए सन्तोष कमरे से निकलकर बरामदे में आया

और टहलने लगा। वह सोचने लगा—ओह, ऐसा पराजय क्या पुरुष का होता है ? पेड़ की पत्तियाँ, आकाश के तारे, ये सभी तो मुझ पर हँस रहे हैं। और कहाँ तक कहें, मेरा हृदय तक आज मेरी खिल्लियाँ उड़ा रहा है !

सन्तोष व्याकुल भाव से सोचने लगा कहाँ गया वह दिन जब कि मैंने चित्त को दृढ़ करके बहुत ही गर्व के साथ सुषमा से कहा था कि मैं वासन्ती को प्यार न कर सकूँगा। मूर्च्छित और अचेत होकर पत्नी को चरणों के समीप पड़ी देखकर भी मैं विचलित नहीं हुआ ! विवाह-रूपी मूल्य से जिस दिन मैं उसे खरीद कर ले आया हूँ तब से उसके मस्तक पर मैं बराबर घृणा और दुर्व्यवहार का ही बोझा लादता रहा हूँ, किन्तु इस तरह का दुष्कर्म करने में मैंने ज़रा भी ग्लानि का अनुभव नहीं किया। यह वही सन्तोष है। किन्तु मेरे हृदय में आज किस तरह का परिवर्तन हो गया है। असहाय और उपेक्षिता पत्नी का आग्रहपूर्ण आह्वान भी जिसे सङ्कल्प से च्युत करने में समर्थ नहीं हो सका था, आज उसी पत्नी की निष्ठुरता तथा उदासीन भाव देखकर मेरा हृदय गम्भीर व्यथा से परिपूर्ण क्यों हो रहा है ?

दीर्घ साधना के बल पर सन्तोष बराबर सोचता ही रहा। उसके मन में आया—इतने दिनों से धैर्य्य का जो बन्धन बाँध रहा था, आज वह इस तरह उसकी सारी साधना की उपेक्षा करके क्यों टूट गया ? इस पराजय का टीका मस्तक में लगाकर मैं दुनिया को मुँह न दिखा सकूँगा। मुझे यहाँ से भागना ही पड़ेगा। अन्तःसलिला फल्गु के समान मन के इस भाव को प्रश्रय देना मेरे लिए निरापद नहीं है। इस समय वासन्ती के सङ्ग का परित्याग करके चला जाना ही मेरे लिए कल्याणकर है। यद्यपि इस समय उससे बिदा लेने में मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा, तथापि यही दण्ड मेरे लिए उपयुक्त है।

सन्तोष की चिन्ता के इस प्रवाह को रोकते हुए विनय ने पुकारा—भैया !

चौंक कर सन्तोष पीछे की ओर फिरा। उसने देखा, विनय खड़ा है। व्यथित कण्ठ से वह कहने लगा––कहो विनय, क्या कहते हो? मुझसे क्या कुछ कह रहे थे?

विनय ने देखा कि सन्तोष का जो मुख सदा प्रफुल्लित रहा करता था वह आज सूखा हुआ है। विषाद के बादल उमड़ कर मानो उसके मुख पर छाये हुए हैं। एक ही रात में बड़े भाई में इतना अधिक परिवर्तन देखकर विनय स्वयं विस्मित हो गया। सन्तोष के हृदय की व्यथा अपने हृदय में अनुभव करके विनय बहुत ही व्यथित हो उठा। फिर भी अपने इस भाव को छिपाकर उसने बहुत ही सरल और स्वाभाविक कण्ठ से कहा––क्या आपकी तबीअत कुछ खराब है?

अपने शरीर पर दृष्टि दौड़ाकर सन्तोष ने कहा––नहीं तो। मेरी तबीअत तो ख़राब नहीं है। क्या तुम्हें कोई ऐसी बात मालूम पड़ रही है?

सन्तोष के मुरझाये और उतरे हुए मुंह की ओर ताक कर विनय ने कहा––एकाएक आपका चेहरा इस तरह का कैसे हो गया?

धीमी-सी साँस लेकर सन्तोष ने कहा––चेहरा उतरा हुआ है? कल रात को नींद नहीं आई, शायद इसी लिए। और कोई बात––

"तो फिर जाने की ज़रूरत नहीं है।"

आग्रहपूर्ण कण्ठ से सन्तोष ने कहा––कहाँ?

विनय ने कहा––टपकेश्वर।

सन्तोष ने कहा––भाई, मैं तो आज न चल सकूँगा। कल रात को माइक्रसकोप में अच्छी तरह से देख नहीं सका हूँ। आज सबेरे तुम्हारी भाभी के पैर की फाँस ज़रा-सा फिर देखनी होगी। इससे शायद मैं आज न चल सकूँगा।

यह कहकर सन्तोष उठकर बैठने ही जा रहा था कि सेफाली आकर कहने लगी––भैया आइए, मैं सब ठीक कर आई हूँ।

सेफाली की यह बात सुनते ही सन्तोष उठकर चला गया। विनय

कुछ देर तक अकेला ही चुपचाप बैठा रहा, किन्तु उसकी तबीअत ऊबने लगी, इससे बरामदे से उतर कर जैसे ही वह सड़क पर आने लगा, वैसे ही उसे एक गाड़ी दिखलाई पड़ी । उस गाड़ी में थे विनय के पिता, चमेली, ताई जी और सुषमा ।

रमाकान्त बाबू जैसे ही गाड़ी से उतरे, विनय ने कहा--बाबू जी आप आये हैं ? सूचना क्यों नहीं दी ? स्टेशन पर आ जाता । आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा ।

पुत्र के कन्धे पर हाथ रखकर रमाकान्त बाबू ने कहा--नहीं बेटा, कोई कष्ट नहीं हुआ । छुट्टी होने से दो दिन पहले ही चला आया ।

वे सभी लोग भीतर की ओर बढ़े ।

उन्तालीसवाँ परिच्छेद

तृप्ति

सेफाली के साथ वासन्ती के कमरे में आकर सन्तोष ने देखा तब वह छटपटा रही थी। उसके यन्त्रणा से कातर मुख की ओर ताक कर सन्तोष कहने लगा--बड़ा कष्ट हो रहा है ?

वासन्ती ने कहा--नहीं, कोई वैसा कष्ट नहीं है।

कमीज़ की आस्तीन सिकोड़कर सन्तोष ने कोहनी के पास तक मोड़ दिया। तब उसने साबुन से हाथ धोये। एक बर्तन में गरम जल रक्खा हुआ था। उसमें उसने अपने अस्त्र डाल दिये और वासन्ती के घाव की पट्टी खोलने लगा। पट्टी खुल जाने पर घाव की परीक्षा करके सन्तोष ने कहा--अभी इसके भीतर काँच है, इसी लिए पीड़ा हो रही है। देखना, मैं इसे कैसी सफ़ाई से निकालता हूँ। सेफाली, देखेगी तू ? डाक्टरी सीख ले न।

सेफाली मुस्कराती हुई बोली--अपनी डाक्टरी तुम अपने ही पास रक्खे रहो भैया। मुझे उसकी ज़रूरत नहीं है। तुम्हें यदि घाव में चीर-फाड़ करनी हो तो बतला दो, मैं चली जाऊँ।

स्नेहपूर्ण कटाक्ष से बहन की ओर ताकते हुए सन्तोष ने कहा--घाव को ज़रा-सा काटना तो होगा ही। उसमें से काँच के टुकड़े निकालने हैं न। यही शायद तेरी वीरता है ! तेरी भाभी तुझे बहुत वीर समझती हैं।

"यह सब रहने दो भैया। मैं जाती हूँ।"

सेफाली को भागती देखकर सन्तोष ने ऊँचे स्वर से कहा--ज़रा विनय को बुला दो।

वासन्ती उस समय अपनी अवस्था को भूल-सी गई थी । उसने सारे अभिमान-अत्याचार, अपमान और अन्याय को दूर करके, लज्जा का परित्याग करके ज्ञान-शून्य भाव से अपने शीतल हाथों में सन्तोष के दोनों ही हाथ ले लिये । स्वामी की ओर ताकती हुई अनुनयपूर्ण स्वर में उसने कहा—मुझसे कटवाया न जायगा । ... ...विनय बाबू को न बुलाइए... ...कहीं मैं चिल्लाने न लगूँ ।

बाह्य ज्ञान से शून्य पत्नी की ओर अनिमेष दृष्टि से ताकते हुए सन्तोष ने कहा—डरने की कोई बात नहीं है। दर्द न करेगा। देखना, कितनी सफ़ाई से मैं काँच के सारे टुकड़े निकाले देता हूँ। तुम्हें मालूम तक न हो पावेगा ।

वासन्ती के हाथ के स्पर्श के कारण सन्तोष के शरीर में न जाने कौन-सी ऐसी बात हो गई । दीर्घ काल के रोगी के समान उसका शरीर और मन अवसन्न हो उठा । तो भी वासन्ती का हाथ ठेल देने की इच्छा आज उसे नहीं हो रही थी । वह तो इसी स्पर्श का भिखारी था । यह स्पर्श प्राप्त करने की उसे आशा ही नहीं रह गई थी ।

सन्तोष और वासन्ती प्रेम-पूर्वक एक-दूसरे का हाथ पकड़े ही हुए थे । बाहर से चमेली और सुषमा भी उसी कमरे की ओर चली आ रही थीं । जब वे दोनों दरवाज़े से कुछ दूर थीं तभी वासन्ती की दृष्टि उन पर पहुँच गई । उन दोनों को आती देखकर आश्चर्य में आकर वह कहने लगी—यह क्या ? दीदी ?

सन्तोष के हाथों से अपने हाथ छुड़ा लेना उस समय भी वासन्ती को भूल गया ।

सन्तोष ने उतावली के साथ अपना हाथ छुड़ाकर जैसे ही पीछे की ओर देखा, चमेली पर उसकी दृष्टि पड़ी । वह कहने लगा—वाह, चमेली तू आ गई ? कब आई है ?

चमेली के पीछे ही पीछे गेरुआ वस्त्र पहने आती हुई सुषमा

की ओर देखकर चकित भाव से सन्तोष ने कहा--यह क्या ? सुषमा ? तुम हो ?

वासन्ती जो सन्तोष के हाथ पकड़े हुए थी, वह चमेली और सुषमा के दृष्टि-पथ पर पड़ने से न बच सका।

स्थिर कण्ठ से सुषमा ने कहा--हाँ सन्तोष भाई, आप तो अच्छी तरह से हैं न ? यह कहकर वह वासन्ती के पास जाकर खड़ी हो गई। घूँघट की आड़ से वासन्ती ने चमेली से कहा--सुषमा दीदी को किस तरह पकड़ ले आई हो ?

चमेली ने कहा--बाबू जी बड़ी कठिनाई से इन्हें अपने साथ में ले आये हैं। बाबू दुनीचन्द के एक मुक़द्दमे के सिलसिले में वे कलकत्ता गये थे। लौटते समय सुषमा दीदी के यहाँ जाकर उन्हें पकड़ ले आये। बाबू जी कहते थे कि ये किसी तरह आ ही नहीं रही थीं। बहुत कुछ कह सुनकर तो थोड़े दिनों के लिए इन्हें यहाँ ले आये हैं। ज़रा देखो तो, इनकी सूरत कैसी हो गई है ? यही देख-कर तो बाबू जी ने इन्हें साथ में ले आने के लिए और ज़ोर दिया। तुम्हें क्या हो गया भाभी ? पत्थर बटोरने का शायद तुम्हें और समय नहीं मिल सका ? तुम सदा इसी तरह की रहोगी ? मामी जी भी आई हैं।

बड़ी देर तक चुप रहने के बाद जब थोड़ा-बहुत सङ्कोच दूर हुआ तब सन्तोष ने कम्पित कण्ठ से सुषमा से कहा--बाबू जी कहाँ हैं ?

सुषमा ने शान्त कण्ठ से कहा--बाबू जी तो मा के बाद ही भैया के पास चले गये।

मा के सम्बन्ध की बात मुँह से निकलते ही सुषमा की आँखें आँसू से भीग गईं। वह और कुछ न कह सकी। सन्तोष भी कुछ समय तक हक्का-बक्का-सा होकर खड़ा रहा। बाद को वह कहने लगा—अब देर करना ठीक न होगा। ज़रा-सा पैर देख लेना चाहिए।

वासन्ती ने डर के मारे सुषमा के कन्धे में अपना मुँह छिपा लिया। चमेली ने भी समीप जाकर वासन्ती के काँपते हुए दोनों पैरों को जोर से पकड़ लिया।

चीर-फाड़ के काम में सन्तोष बहुत ही निपुण था। इसलिए मुलायम हाथ से उसने काँच के सभी टुकड़े निकाल लिये। तब उसने घाव को एक बार और बहुत ध्यान से देखा। बाद को उसने धोकर उसमें दवा लगाई और पट्टी बाँध दी। इस प्रकार वासन्ती के पैर की चिकित्सा से निवृत्त होकर सन्तोष उसके कमरे से बाहर निकल गया।

वासन्ती के पैर की पीड़ा बहुत कुछ शान्त हो गई। काँच के टुकड़े निकालते समय भी उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं हुआ था। स्वामी की इस दया के लिए वह उसके प्रति मन ही मन बहुत ही कृतज्ञ हो उठी।

सन्तोष के कमरे से चले जाने पर तुरन्त ही सुजाता आ पहुँची। वह सुषमा को अपने कमरे में बुला ले गई। तब वासन्ती के पास चमेली ने बैठ कर शान्ति की एक साँस ली और मुस्कराती हुई कहने लगी—कहो जी, राधारानी के द्वार पर मदनमोहन कितने दिनों से फेरी लगा रहे हैं?

वासन्ती ने लज्जित कण्ठ से कहा—कहाँ? मेरी समझ में तो कोई ऐसी बात नहीं आ रही है?

चमेली ने हाथ से पकड़ कर वासन्ती का नीचे की ओर झुका हुआ मुंह उठाया और कहने लगी कि इस तुम्हारे न समझने में से ही जयदेव की कविता का काम भैया निकाल लेंगे। इस परिस्थिति में भी क्या ज्ञान रह जाता है?

चमेली की बात काटती हुई वासन्ती कहने लगी—जाइए, आप भी बहुत वाहियात हैं।

"अब तो वाहियात हूँगी ही। और उस दिन की सब बातें शायद याद नहीं हैं? तुम्हारा क्या दोष है भाई? यह घोर कलि है न! मैं मरती हूँ उनके लिए और वे यह शुभ समाचार तक सुनाने को तैयार

नहीं हैं। तुम लोगों का दोष तो कोई देखेगा नहीं, इधर जरा भी त्रुटि हो जाने पर 'नँनदी बैरिनि' की उपाधि मिल जायगी।

वासन्ती कहने लगी--आपसे बात में पार न पा सकूँगी। आपकी जो इच्छा हो वही कहिए। मैं हार माने ले रही हूँ। अच्छा यह तो बतलाओ कि सुषमा दीदी की इस तरह की शकल कैसे बन गई है दीदी! फूफा जी ने उन्हें यहाँ लाकर बड़ा अच्छा काम किया है।

एक बहुत ही हलकी-सी आह भर कर चमेली ने कहा--आहा, उस बेचारी को देखने पर बड़ा दुःख होता है। क्या वह हम लोगों के साथ कुछ समय तक रहेगी? बाबू जी के बहुत कहने-सुनने पर वह कुल आठ दिन के लिए आई है। बहुत रहेगी तो दो दिन और। चेहरा देखकर बाबू जी कहते थे कि अधिक समय तक यह जीवित न रह सकेगी। इलाहाबाद में बाबू जी ने मन्मथ बाबू से इसके स्वास्थ्य की परीक्षा करवाई थी। वे कहते थे कि कोई विशेष प्रकार का आघात लगने के कारण इसका हार्ट (हृदय) बहुत खराब हो गया है। देखती नहीं हो, चेहरा कैसा पीला पड़ गया है, मानो शरीर में रक्त ही नहीं रह गया है! मा की मृत्यु होते ही सुषमा दीदी मानों बहुत अधिक कातर हो उठी हैं।

इतने में मुस्कराती हुई सुषमा ने आकर कहा--वासन्ती रोती क्यों है?

चमेली ने कहा--मन्मथ बाबू की सब बातें बतला दी हैं, इसी लिए ये--

चमेली की ओर ताकती हुई सुषमा कहने लगी--इतना भोजन तो पचा लेती हो, किन्तु बात तुम्हारे पचाये न पच सकी।

चमेली से यह बात कह कर सुषमा वासन्ती का आँसुओं से भीगा हुआ मुख अञ्चल से पोंछने लगी। बाद को भर्राई हुई आवाज से वह कहने लगी--इस तरह की पगली तो मैंने और कहीं नहीं देखी। डाक्टर ने कह दिया तो क्या मैं अभी मरी ही जा रही हूँ? तुम लोगों को जलाने-भूनने के लिए अब भी मैं बहुत दिनों तक बची रहूँगी। ठहरो, पहले मेरी तपस्या सिद्ध हो जाय, अन्नपूर्णा के द्वार पर भँगेड़ी

पशुपति को भिक्षा-पात्र लिये हुए खड़ा देख लूँ, तब तेरी दीदी को मरने में शान्ति मिल सकेगी ।

वासन्ती और चमेली दोनों ही अत्यधिक श्रद्धा के साथ सुषमा के मुँह की ओर ताकती रहीं । उन दोनों ने देखा कि मानो सुषमा के मुख पर बहुत दिनों के बाद आज तृप्ति का भाव विराजमान हो रहा है। चमेली मन ही मन सोचने लगी कि सुषमा दीदी का हृदय कितना अधिक विशाल है । उनके समान कोई धनी भी नहीं है, कोई दीन भी नहीं है । उन्होंने संसार में अपने आपको बिलकुल मिला दिया है, वे सुख-दुःख की अवस्था को पार कर गई हैं । अनाथों और असहायों के दुःख को अपना ही दुःख समझती हैं। उनके हृदय में चाहे कितना ही बड़ा अभाव क्यों न हो, किन्तु किसी प्रकार की भी व्यथा उनके हृदय को पीड़ित न कर सकेगी ।

एक ज़ोर की आह भर कर वासन्ती ने चमेली से कहा---दीदी, क्या मेरी शनि की दशा व्यतीत हो जायगी ?

वेदना की रेखा से अङ्कित वासन्ती के मुँह की ओर ताकती हुई चमेली ने कहा---तू तो रानी होगी वासन्त ! इस समय में तेरी बृहस्पति की दशा आ गई है ।

इतना कहकर चमेली ने वासन्ती के मुखमण्डल पर एक चुम्बन अङ्कित कर दिया । इतने में ताई जी ने आकर वासन्ती से कहा---क्या सदा ही इसी तरह अल्हड़ बनी रहेगी । देख न कितना कष्ट पा रही है । जो भी हो, आज अपनी लाड़िली के पास भैया को देख लिया, बस मेरा हृदय शीतल ... ...किन्तु हाय, यह बात मेरे देवर न... । उनसे और न कहा गया । आँसुओं की प्रबल धारा ने उनका कण्ठ रुद्ध कर दिया ।

यह देखकर सुषमा बढ़ी । वृद्धा को सान्त्वना देती हुई वह कहने लगी---वासन्ती पारस-पत्थर है ताई जी, उसके पास जो आवेगा वही सोना हो जायगा ।

चालीसवाँ परिच्छेद

जाने में बाधा

आठ-दस दिन बीत गये। वासन्ती कुछ कुछ अच्छी हो चली थी। परन्तु उसके घाव की पट्टी उस समय भी नहीं खुली थी। अभी तक वह ठीक से चल भी नहीं पाती थी। कल ही सुषमा के जाने की बात थी, इसलिए बासन्ती के अत्यन्त आग्रह से बुआ जी देहरादून के सभी दर्शनीय स्थान उसे दिखलाने के लिए गई थीं।

सन्ध्या के अस्पष्ट अन्धकार में सन्तोष वासन्ती के कमरे में आकर खड़ा हुआ। घूमने जाने से पहले चमेली आकर कह गई थी--भैया, भाभी जी को दवा खिला दीजिएगा। वे अपनी इच्छा से न खायँगी।

कमरे में पैर रखते ही सन्तोष ने देखा कि नयनसिंह की मा कमरे का आधा फ़र्श दख़ल किये हुए कुम्भकर्णी निद्रा में मग्न हैं और उनकी नासिका के गर्जन से सारा कमरा गूँज रहा है। एकाएक न जाने कैसी एक प्रकार की तीव्र दुर्गन्धि आकर सन्तोष की नासिका में प्रविष्ट हुई।

उतावली के साथ उसने जेब से यूकलिपट्स (एक प्रकार का सुगन्धित पदार्थ) लगा हुआ रूमाल निकाला और उसे नाक से लगाते हुए अर्द्धोच्चारित स्वर से कहने लगा--बाप रे! इस तरह की दुर्गन्धि में क्या आदमी ठहर सकता है? पता नहीं, तुमसे कैसे लेटे रहा जाता है यहाँ। मैं देखता हूँ कि गूँगी तो तुम बहुत दिनों से हो, क्या उसके साथ ही साथ नाक भी बन्द हो गई है?

वासन्ती के मन में आ रहा था कि एक बार पूछूँ कि मेरा यह जो गूँगापन है, क्या मेरी अपनी इच्छा का फल है? साथ ही वह यह भी कह देना चाहती थी कि ये जो मैले-कुचैले और तेल से भीगे हुए बिस्तरे हैं, जिनमें से दुर्गन्धि निकल रही है इनसे मेरा विशेष रूप से परिचय है। जब से मैंने जन्म ग्रहण किया है तभी से विश्वपिता ने मेरे अदृष्टसूत्र में इस प्रकार के बिस्तरों को ही ग्रथित कर दिया है।

इनसे मेरा छुटकारा कहाँ है ? परन्तु वह कुछ नहीं बोली। अन्त में निरुपाय होकर सन्तोष ने नौकरानी को बाहर जाने को कह दिया।

नौकरानी कमरे से निकल कर चली गई। तब सन्तोष ने मेज़ पर से शीशी उठाई, उसमें से गिलास में दवा उँड़ेली और वासन्ती की ओर बढ़ा। उसने देखा कि वासन्ती चारपाई पर से उतर कर खड़ी है। तब सन्तोष ने वासन्ती से कहा—अभी इतना हिलो-डुलो मत। मैं तो दवा दे ही रहा हूँ। तुम्हें चारपाई पर से उतरने की क्या ज़रूरत है ?

वासन्ती ने लज्जित कण्ठ से कहा—आपकी तो यह सब करने की आदत नहीं है। दीजिए। मैं ही सब किये लेती हूँ।

पत्नी के सूखे हुए साथ ही लज्जा से अरुण मुख की ओर देखकर सन्तोष ने कम्पित स्वर में कहा—वासन्ती, क्या अब भी—प्रायश्चित्त—समाप्त नहीं हुआ ? अब मुझे क्यों क्लेश दे रही हो ? आज मैं तुम्हारे साथ अपना आखिरी हिसाब-किताब करने आया हूँ।—सुनो—वासन्ती, तुम्हारे साथ विवाह करके मैंने जो तुम्हारे जीवन को नष्ट किया है, आज उसके लिए—

आन्तरिक वेदना के कारण सन्तोष का कण्ठ रुद्ध होता जा रहा था। वह इतने शब्द भी बड़ी कठिनाई से निकाल सका।

वासन्ती के जी में आया कि खरा जवाब दे दूँ। इनसे पूछूँ कि क्या आज बढ़िया से बढ़िया रस और पाक का प्रयोग करके मेरे उस खोये हुए जीवन को लौटालने आये हो ? किन्तु ज़बान लड़ा लड़ा कर बहस करना उसके स्वभाव के विरुद्ध था, अतएव उसने कोई भी बात मुँह से न निकलने दी।

सन्तोष कुछ क्षण तक पत्नी के अविचलित और मौन मुख की ओर दृष्टि स्थिर किये रहा। बाद को कम्पित कण्ठ से वह कहने लगा—वासन्ती, मैं बहुत दिनों से ऐसा ही एक अवसर खोजता फिरता था। शायद तुम इसे पागल का प्रलाप समझ कर उड़ा देना चाहोगी। किन्तु फिर भी मैं कहता हूँ। मैं जो भी होऊँ, मैंने तुम्हारे साथ विश्वासघातकता नहीं की, इस बात का इच्छा करने पर ही तुम विश्वास कर सकती हो।

उत्तेजना के कारण उसका कण्ठ रुद्ध हो आया।

इसके उत्तर में भी वासन्ती ने मुँह से कोई बात नहीं निकाली। उसे इस तरह मौन देखकर सन्तोष ने फिर कहा——बहुत दिनों की बहुत-सी बातें हृदय में जमी हैं। आज वे रोके नहीं रुकती हैं। वासन्ती, यदि तुमने निर्दय, हृदयहीन स्वामी को क्षमा कर दिया हो तो सुनो तुमसे थोड़ी-सी बातें कह जानी हैं।

संशयपूर्ण कण्ठ से वासन्ती ने कहा——आप जाइएगा कहाँ ?

सन्तोष ने कहा——मैं कहाँ जाऊँगा, यह कुछ अभी तक निश्चय नहीं है। किन्तु जाऊँगा। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है, इसके लिए मुझे क्षमा कर दो। मैंने सोचा था कि मैं तुमसे कभी प्रेम न कर सकूँगा। किन्तु——किन्तु, आज कुछ महीनों से मैं यह अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि मैं तुम्हें——। शायद तुम्हें मालूम होगा कि कालेज में पढ़ते समय मैंने एक दूसरी बालिका से प्रेम किया था। वह बालिका और कोई नहीं, सुषमा है। मेरे और सुषमा के प्रेम में मुख्य बाधक हुए पिता जी। पिता जी से बदला लेने की मेरे हृदय में इच्छा उत्पन्न हुई और उसके लिए मैंने प्रयत्न किया। परन्तु इस सिलसिले में तुम्हारे ऊपर मैंने जो अन्याय और अत्याचार किया है उसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता।

उस समय वासन्ती की एक-एक धमनी में रक्त की धारा मानों थिरक-थिरक कर नाच रही थी। उसने एक प्रकार के अपूर्व सुख का अनुभव किया, जिसके कारण पुलकित होकर वह अपने आपको भूल गई। जिस पवित्र प्रेम के झरने की धारा से अपने पिपासा से जलते हुए अन्तः-करण को सींचकर हरा करने के लिए उसका समस्त देह-मन और प्राण व्याकुल हुआ जा रहा था, जिस असहनीय जीवन-संग्राम में वह अपने आपको परास्त समझ रही थी, आज इतने दिनों का अत्याचार, अवहेलना और अविचार, सभी कुछ स्वामी के मन का व्याकुल भाव देखकर तूफ़ान के सामने पड़ी हुई धूलि-राशि के समान किसी महाशून्य में मिल गया। जो वाणी सुनने के लिए वह चिर-दिन से लालायित थी, आज उसी

वाणी ने एक ऐसे अज्ञात पुलक की सुधा-धारा से उसके देह-मन-प्राण को सिञ्चित कर दिया, जिसका वासन्ती अनुभव न कर सकीं। क्या निराशा से भरे हुए उसके जीवन की रात्रि का अन्त हो चला था? क्या सचमुच उसके लिए उषाकाल आ गया था? क्या आज सचमुच उसके नव-जागरण का शुभ-मुहूर्त्त था? क्या सचमुच ही इन्द्रदेव अपहरण की हुई समस्त सम्पत्ति लेकर चिरकाल से उपेक्षित की गई वासन्ती के द्वार पर खड़े थे? क्या यह मरुभूमि की मरीचिका थी? वासन्ती की समझ में ही कोई बात नहीं आ रही थी। वह मन ही मन कहने लगी—हे हृदय के देवता, क्या व्यर्थ नारी-जीवन के तीव्र हाहाकार ने सचमुच तुम्हारे चरण-तल का स्पर्श किया है? यह कैसी आशातीत करुणा है नारायण?

जिस अज्ञात आशङ्का से वासन्ती का मन शङ्कित हो उठा था, स्वामी की बात से मन के मेघ कट जाने पर वासन्ती ने अनुभव किया कि इसमें केवल विसर्जन के बाजे ही नहीं हैं, बल्कि आवाहन के मन्त्र भी हैं।

पत्नी को निरुत्तर देखकर वेदना के मारे सन्तोष का हृदय भार से आक्रान्त हुआ जा रहा था। वह फिर कहने लगा—तुम्हारे हृदय को मैंने बड़ा क्लेश दिया है। उसके लिए स्वयं भी बहुत कष्ट सहन किया है। वह सब बातें लज्जा के कारण आज तक मैं तुमसे कह नहीं सका। आज सारी बातें तुमसे कह देने पर हृदय की व्यथा बहुत कुछ हलकी हो गई। अब जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुम यह विश्वास कर सकोगी कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। और तुम... तुमने मेरे सारे—

वेदना के मारे उसका कण्ठ रुद्ध हो गया।

कुछ देर के बाद सन्तोष जब स्वाभाविक अवस्था में आया तब उसने वासन्ती के काँपते हुए दोनों हाथों को अपने शीतल हाथ में लेकर आँसू से रुँधे हुए कण्ठ से कहा—तुम्हारी अनुमति के बिना मैंने तुम्हारा स्पर्श किया है, इसके लिए मुझे क्षमा करना। मेरे मन की अवस्था को समझकर इस धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कर दो। संभव

है कि अब हमारी तुम्हारी भेंट न हो। आज तुम मुझसे लज्जा न करो। वासन्ती, इस समय मेरी एक कामना है। मैं तुम्हारे मुंह से सुनकर जाना चाहता हूँ कि तुम मुझसे घृणा नहीं करती हो, साथ ही तुमने मुझे क्षमा कर दिया है। इस तरह अब मुझे भूल में न डाले रहो।

दोनों ही नेत्रों में आँसू भरे हुए वासन्ती उस समय शान्त भाव से खड़ी थी। स्वामी के वेदना-मिश्रित मुख पर अचञ्चल दृष्टि निबद्ध करके अकम्पित कण्ठ से वह कहने लगी--आपने अपराध किया है दीदी के प्रति, आप उनसे क्षमा माँगिए। और--और--

सन्तोष जिस हाथ से वासन्ती के हाथ पकड़े हुए था वह ज़ोर से काँप रहा था, इससे वासन्ती उसकी मानसिक अवस्था का अनुभव कर रही थी। वह जो कुछ कहने जा रही थी वह उससे कहा न गया। मुंह भर हँसी लिये हुए कमरे में आकर सुषमा ने पुकारा--यह क्या वासन्ती! सन्तोष भाई!

सुषमा को जाती देखकर सन्तोष ने रुद्धकण्ठ से कहा--चकित क्यों हो उठी हो सुषमा? जाओ नहीं। तुमसे हम लोगों को--मुझे कुछ कहना है।

धीर और शान्त कण्ठ से सुषमा ने कहा--मुझसे?

सन्तोष ने कहा--हाँ तुमसे। सुषमा, इतने वर्षों के बाद रोम-रोम से मैं तुम्हारी बात का अनुभव कर सका हूँ। पिता जी के आशीर्वाद, तुम्हारी भविष्य-वाणी और वासन्ती की व्याकुलता ने सचमुच मुझे सत्य-पथ पर लाकर खड़ा कर दिया। मुझे--क्षमा--क्षमा कर दो सुषमा!

पृथिवी-तल पर दृष्टि निबद्ध किये हुए सुषमा ने संयत कण्ठ से कहा--इस तरह की बात कह कर मुझे अपराधिनी न बनाइए सन्तोष भाई! अपराधी तो आप नहीं हैं। उस अनुपात से तो मैंने ही बल्कि आपके प्रति अधिक अपराध किया है। आप मेरे दीक्षादाता गुरु हैं।

वासन्ती के पास से दो पग पीछे की ओर हट कर सन्तोष ने कहा--गुरु? क्या कहा तुमने? मैं तुम्हारा--

"हाँ सन्तोष भाई, आप मेरे गुरु हैं। वासन्ती को यदि आप इस तरह न रखते तो संभव था कि मैं आप लोगों को इतना अधिक न पहचान पाती। इसी से कहती हूँ कि मुझे मुक्ति का मार्ग दिखाने-वाले आप ही हैं। नारी-मात्र ही दुर्बल हैं, सदा से ही पराधीन हैं, विशेषतः हिन्दू के घर में। कारण, जिसके समीप आजन्म के लिए उन्हें बन्धन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके सुख-दुःख को उन्हें अपने सुख-दुख के साथ जोड़ रखना होता है, उसी अज्ञात सागर में कूदते समय हिन्दू नारी जो अचल, अटल और अनन्त विश्वास लेकर आती है, दूसरी जाति की स्त्रियों के समान अपने भावी जीवन के संगी को देखने या उससे परिचय प्राप्त करने का अवसर तो उन्हें मिलता नहीं। यह सरल, गम्भीर विश्वास--प्रथम जीवन का भय, भक्ति, श्रद्धा जिनके चरणों में हम अर्पित कर देती हैं वे ही यदि स्वार्थ के लिए अन्धे हो जायँ और हमारी इस श्रद्धाञ्जलि को पैर से ठुकरा दें तो हम कहाँ जायँ ? ऊपरी ही तड़क-भड़क हर एक आदमी देखता है, भीतर की ख़बर रखनेवाले कितने आदमी हैं, क्या यह आप बतला सकते हैं ? वासन्ती के दुर्भाग्य ही ने मुझे संसार में इस प्रकार दृढ़ बनाया है और उसके इस दुर्भाग्य के कारण आप हैं। इसी लिए मैं कह रही हूँ कि आपने मुझे नारी के वास्तविक मार्ग का पता बतलाया है।

कमरे में जो बत्ती जल रही थी, उसके प्रकाश में सुषमा की पवित्र गौरव-मण्डित तपस्विनी मूर्ति की ओर ताक कर सन्तोष ने अनुताप-मिश्रित कण्ठ से कहा--तुम्हें मैं पहचान नहीं सका हूँ, तुम्हारा दान तिरस्कार करके लौटाल दिया है, इससे मेरे मन को बड़ा कष्ट मिला है। दो, सुषमा, आज मैं तुम्हारा दान आदर के साथ ग्रहण करता हूँ।

सुषमा ने उस समय आगे बढ़कर वासन्ती के तुषार के समान शीतल दोनों ही हाथों को सन्तोष के काँपते हुए हाथों पर रखकर शान्त कण्ठ से कहा--तो आज मेरी बहन को ग्रहण कीजिए सन्तोष

भाई ! अपनी तपस्या की सिद्धि मैं आपको दिये जा रही हूँ। वासन्ती को आपको सौंपकर आज मैं निश्चिन्त भाव से लौटकर अपने आश्रम में जा सकूँगी। आप इतने महान् हैं, यह समझ कर ही मैं उस दिन वासन्ती को लेकर आपके पास गई थी। होगा, उन सब बातों की अब आवश्यकता नहीं है। आप जानते नहीं कि आपका प्रेम प्राप्त करना साधारण नारी की साधना का....

इतना कहकर सुषमा कमरे से निकल कर चली गई। भूतत्त्व के ज्ञाता जिस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप करके पृथिवी के तल-देश तक को भेद कर उसके प्रकृत तथ्य का निर्णय कर लेते हैं, उसी तरह सन्तोष के मन में भी आया कि यदि किसी प्रकार इस पाषाणी किन्तु धरित्रीरूपिणी सुषमा के हृदय के अन्तस्तल की परीक्षा करके एक बार देख सकता ! किन्तु न जाने क्या सोच कर उसने अपनी अबाध्य इन्द्रियों को प्रबल भाव से क़ाबू में कर रक्खा। मन ही मन उसने कहा--तुम्हारा यह स्थान अक्षय हो सुषमा।

कुछ क्षण तक स्तब्धभाव से खड़ा रहने के बाद सन्तोष ने फिर कर देखा तो वासन्ती भूमि में दृष्टि गड़ाये खड़ी थी, उसके दोनों कपोल आँसुओं से भीगे हुए थे। वह मानों स्वप्न से अभिभूत थी, अपने आपको भूल-सी गई थी।

सन्तोष ने धीरे-धीरे वासन्ती के कन्धे पर अपने शिथिल हाथों को रख दिया और व्यथित कण्ठ से कहने लगा--कुछ तो कहा नहीं। अब मुझे आज्ञा दो वासन्ती, मैं चलूँगा। अब मैं तुम्हारी दृष्टि के सामने रह कर तुम्हारी यन्त्रणा न बढ़ाऊँगा--मैं ही तुम्हारी दुर्दशा का कारण हूँ।

सन्तोष बराबर कहता गया। वह कहने लगा--वासन्ती, यह मेरे निष्ठुर जीवन का सन्ध्या-काल है। अब मैं किसी अनिर्दिष्ट पथ की ओर यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए पाथेय के रूप में अपने अकृतज्ञ स्वामी को कुछ ऐसी चीज़ दो जिससे अकेले मार्ग में चलते समय अभाव की पीड़ा मेरे मन को व्यथित न कर सके। बीच-बीच में एक एक बार

"हाँ सन्तोष भाई, आप मेरे गुरु हैं। वासन्ती को यदि आप इस तरह न रखते तो संभव था कि मैं आप लोगों को इतना अधिक न पहचान पाती। इसी से कहती हूँ कि मुझे मुक्ति का मार्ग दिखाने-वाले आप ही हैं। नारी-मात्र ही दुर्बल हैं, सदा से ही पराधीन हैं, विशेषतः हिन्दू के घर में। कारण, जिसके समीप आजन्म के लिए उन्हें बन्धन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके सुख-दुःख को उन्हें अपने सुख-दुख के साथ जोड़ रखना होता है, उसी अज्ञात सागर में कूदते समय हिन्दू नारी जो अचल, अटल और अनन्त विश्वास लेकर आती है, दूसरी जाति की स्त्रियों के समान अपने भावी जीवन के संगी को देखने या उससे परिचय प्राप्त करने का अवसर तो उन्हें मिलता नहीं। यह सरल, गम्भीर विश्वास--प्रथम जीवन का भय, भक्ति, श्रद्धा जिनके चरणों में हम अर्पित कर देती हैं वे ही यदि स्वार्थ के लिए अन्धे हो जायँ और हमारी इस श्रद्धाञ्जलि को पैर से ठुकरा दें तो हम कहाँ जायँ? ऊपरी ही तड़क-भड़क हर एक आदमी देखता है, भीतर की ख़बर रखनेवाले कितने आदमी हैं, क्या यह आप बतला सकते हैं? वासन्ती के दुर्भाग्य ही ने मुझे संसार में इस प्रकार दृढ़ बनाया है और उसके इस दुर्भाग्य के कारण आप हैं। इसी लिए मैं कह रही हूँ कि आपने मुझे नारी के वास्तविक मार्ग का पता बतलाया है।

कमरे में जो बत्ती जल रही थी, उसके प्रकाश में सुषमा की पवित्र गौरव-मण्डित तपस्विनी मूर्ति की ओर ताक कर सन्तोष ने अनुताप-मिश्रित कण्ठ से कहा--तुम्हें मैं पहचान नहीं सका हूँ, तुम्हारा दान तिरस्कार करके लौटाल दिया है, इससे मेरे मन को बड़ा कष्ट मिला है। दो, सुषमा, आज मैं तुम्हारा दान आदर के साथ ग्रहण करता हूँ।

सुषमा नें उस समय आगे बढ़कर वासन्ती के तुषार के समान शीलत दोनों ही हाथों को सन्तोष के काँपते हुए हाथों पर रखकर शान्त कण्ठ से कहा--तो आज मेरी बहन को ग्रहण कीजिए सन्तोष

भाई ! अपनी तपस्या की सिद्धि में आपको दिये जा रही हूँ । वासन्ती को आपको सौंपकर आज मैं निश्चिन्त भाव से लौटकर अपने आश्रम में जा सकूँगी । आप इतने महान् हैं, यह समझ कर ही मैं उस दिन वासन्ती को लेकर आपके पास गई थी । होगा, उन सब बातों की अब आवश्यकता नहीं है । आप जानते नहीं कि आपका प्रेम प्राप्त करना साधारण नारी की साधना का....

इतना कहकर सुषमा कमरे से निकल कर चली गई । भूतत्त्व के ज्ञाता जिस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप करके पृथिवी के तल-देश तक को भेद कर उसके प्रकृत तथ्य का निर्णय कर लेते हैं, उसी तरह सन्तोष के मन में भी आया कि यदि किसी प्रकार इस पाषाणी किन्तु धरित्रीरूपिणी सुषमा के हृदय के अन्तस्तल की परीक्षा करके एक बार देख सकता ! किन्तु न जाने क्या सोच कर उसने अपनी अबाध्य इन्द्रियों को प्रबल भाव से क़ाबू में कर रक्खा । मन ही मन उसने कहा--तुम्हारा यह स्थान अक्षय हो सुषमा ।

कुछ क्षण तक स्तब्धभाव से खड़ा रहने के बाद सन्तोष ने फिर कर देखा तो वासन्ती भूमि में दृष्टि गड़ाये खड़ी थी, उसके दोनों कपोल आँसुओं से भीगे हुए थे । वह मानों स्वप्न से अभिभूत थी, अपने आपको भूल-सी गई थी ।

सन्तोष ने धीरे-धीरे वासन्ती के कन्धे पर अपने शिथिल हाथों को रख दिया और व्यथित कण्ठ से कहने लगा--कुछ तो कहा नहीं । अब मुझे आज्ञा दो वासन्ती, मैं चलूँगा । अब मैं तुम्हारी दृष्टि के सामने रह कर तुम्हारी यन्त्रणा न बढ़ाऊँगा--मैं ही तुम्हारी दुर्दशा का कारण हूँ ।

सन्तोष बराबर कहता गया । वह कहने लगा--वासन्ती, यह मेरे निष्ठुर जीवन का सन्ध्या-काल है। अब मैं किसी अनिर्दिष्ट पथ की ओर यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए पाथेय के रूप में अपने अकृतज्ञ स्वामी को कुछ ऐसी चीज़ दो जिससे अकेले मार्ग में चलते समय अभाव की पीड़ा मेरे मन को व्यथित न कर सके । बीच-बीच में एक एक बार

"हाँ सन्तोष भाई, आप मेरे गुरु हैं। वासन्ती को यदि आप इस तरह न रखते तो संभव था कि मैं आप लोगों को इतना अधिक न पहचान पाती। इसी से कहती हूँ कि मुझे मुक्ति का मार्ग दिखानेवाले आप ही हैं। नारी-मात्र ही दुर्बल हैं, सदा से ही पराधीन हैं, विशेषतः हिन्दू के घर में। कारण, जिसके समीप आजन्म के लिए उन्हें बन्धन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके सुख-दुःख को उन्हें अपने सुख-दुख के साथ जोड़ रखना होता है, उसी अज्ञात सागर में कूदते समय हिन्दू नारी जो अचल, अटल और अनन्त विश्वास लेकर आती है, दूसरी जाति की स्त्रियों के समान अपने भावी जीवन के संगी को देखने या उससे परिचय प्राप्त करने का अवसर तो उन्हें मिलता नहीं। यह सरल, गम्भीर विश्वास--प्रथम जीवन का भय, भक्ति, श्रद्धा जिनके चरणों में हम अर्पित कर देती हैं वे ही यदि स्वार्थ के लिए अन्धे हो जायँ और हमारी इस श्रद्धाञ्जलि को पैर से ठुकरा दें तो हम कहाँ जायँ? ऊपरी ही तड़क-भड़क हर एक आदमी देखता है, भीतर की खबर रखनेवाले कितने आदमी हैं, क्या यह आप बतला सकते हैं? वासन्ती के दुर्भाग्य ही ने मुझे संसार में इस प्रकार दृढ़ बनाया है और उसके इस दुर्भाग्य के कारण आप हैं। इसी लिए मैं कह रही हूँ कि आपने मुझे नारी के वास्तविक मार्ग का पता बतलाया है।

कमरे में जो बत्ती जल रही थी, उसके प्रकाश में सुषमा की पवित्र गौरव-मण्डित तपस्विनी मूर्ति की ओर ताक कर सन्तोष ने अनुताप-मिश्रित कण्ठ से कहा--तुम्हें मैं पहचान नहीं सका हूँ, तुम्हारा दान तिरस्कार करके लौटाल दिया है, इससे मेरे मन को बड़ा कष्ट मिला है। दो, सुषमा, आज मैं तुम्हारा दान आदर के साथ ग्रहण करता हूँ।

सुषमा ने उस समय आगे बढ़कर वासन्ती के तुषार के समान शीतल दोनों ही हाथों को सन्तोष के काँपते हुए हाथों पर रखकर शान्त कण्ठ से कहा--तो आज मेरी बहन को ग्रहण कीजिए सन्तोष

भाई ! अपनी तपस्या की सिद्धि में आपको दिये जा रही हूँ। वासन्ती को आपको सौंपकर आज मैं निश्चिन्त भाव से लौटकर अपने आश्रम में जा सकूँगी। आप इतने महान् हैं, यह समझ कर ही मैं उस दिन वासन्ती को लेकर आपके पास गई थी। होगा, उन सब बातों की अब आवश्यकता नहीं है। आप जानते नहीं कि आपका प्रेम प्राप्त करना साधारण नारी की साधना का....

इतना कहकर सुषमा कमरे से निकल कर चली गई। भूतत्त्व के ज्ञाता जिस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप करके पृथिवी के तल-देश तक को भेद कर उसके प्रकृत तथ्य का निर्णय कर लेते हैं, उसी तरह सन्तोष के मन में भी आया कि यदि किसी प्रकार इस पाषाणी किन्तु धरित्रीरूपिणी सुषमा के हृदय के अन्तस्तल की परीक्षा करके एक बार देख सकता ! किन्तु न जाने क्या सोच कर उसने अपनी अबाध्य इन्द्रियों को प्रबल भाव से क़ाबू में कर रक्खा। मन ही मन उसने कहा--तुम्हारा यह स्थान अक्षय हो सुषमा।

कुछ क्षण तक स्तब्धभाव से खड़ा रहने के बाद सन्तोष ने फिर कर देखा तो वासन्ती भूमि में दृष्टि गड़ाये खड़ी थी, उसके दोनों कपोल आँसुओं से भीगे हुए थे। वह मानों स्वप्न से अभिभूत थी, अपने आपको भूल-सी गई थी।

सन्तोष ने धीरे-धीरे वासन्ती के कन्धे पर अपने शिथिल हाथों को रख दिया और व्यथित कण्ठ से कहने लगा--कुछ तो कहा नहीं। अब मुझे आज्ञा दो वासन्ती, मैं चलूँगा। अब मैं तुम्हारी दृष्टि के सामने रह कर तुम्हारी यन्त्रणा न बढ़ाऊँगा--मैं ही तुम्हारी दुर्दशा का कारण हूँ।

सन्तोष बराबर कहता गया। वह कहने लगा--वासन्ती, यह मेरे निष्ठुर जीवन का सन्ध्या-काल है। अब मैं किसी अनिर्दिष्ट पथ की ओर यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए पाथेय के रूप में अपने अकृतज्ञ स्वामी को कुछ ऐसी चीज़ दो जिससे अकेले मार्ग में चलते समय अभाव की पीड़ा मेरे मन को व्यथित न कर सके। बीच-बीच में एक एक बार

"हाँ सन्तोष भाई, आप मेरे गुरु हैं । वासन्ती को यदि आप इस तरह न रखते तो संभव था कि मैं आप लोगों को इतना अधिक न पहचान पाती। इसी से कहती हूँ कि मुझे मुक्ति का मार्ग दिखाने-वाले आप ही हैं। नारी-मात्र ही दुर्बल हैं, सदा से ही पराधीन हैं, विशेषत: हिन्दू के घर में । कारण, जिसके समीप आजन्म के लिए उन्हें बन्धन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके सुख-दु:ख को उन्हें अपने सुख-दुख के साथ जोड़ रखना होता है, उसी अज्ञात सागर में कूदते समय हिन्दू नारी जो अचल, अटल और अनन्त विश्वास लेकर आती है, दूसरी जाति की स्त्रियों के समान अपने भावी जीवन के संगी को देखने या उससे परिचय प्राप्त करने का अवसर तो उन्हें मिलता नहीं । यह सरल, गम्भीर विश्वास--प्रथम जीवन का भय, भक्ति, श्रद्धा जिनके चरणों में हम अर्पित कर देती हैं वे ही यदि स्वार्थ के लिए अन्धे हो जायँ और हमारी इस श्रद्धाञ्जलि को पैर से ठुकरा दें तो हम कहाँ जायँ ? ऊपरी ही तड़क-भड़क हर एक आदमी देखता है, भीतर की ख़बर रखनेवाले कितने आदमी हैं, क्या यह आप बतला सकते हैं ? वासन्ती के दुर्भाग्य ही ने मुझे संसार में इस प्रकार दृढ़ बनाया है और उसके इस दुर्भाग्य के कारण आप हैं। इसी लिए मैं कह रही हूँ कि आपने मुझे नारी के वास्तविक मार्ग का पता बतलाया है ।

कमरे में जो बत्ती जल रही थी, उसके प्रकाश में सुषमा की पवित्र गौरव-मण्डित तपस्विनी मूर्ति की ओर ताक कर सन्तोष ने अनुताप-मिश्रित कण्ठ से कहा--तुम्हें मैं पहचान नहीं सका हूँ, तुम्हारा दान तिरस्कार करके लौटाल दिया है, इससे मेरे मन को बड़ा कष्ट मिला है । दो, सुषमा, आज मैं तुम्हारा दान आदर के साथ ग्रहण करता हूँ ।

सुषमा ने उस समय आगे बढ़कर वासन्ती के तुषार के समान शीतल दोनों ही हाथों को सन्तोष के काँपते हुए हाथों पर रखकर शान्त कण्ठ से कहा--तो आज मेरी बहन को ग्रहण कीजिए सन्तोष

भाई ! अपनी तपस्या की सिद्धि मैं आपको दिये जा रही हूँ। वासन्ती को आपको सौंपकर आज मैं निश्चिन्त भाव से लौटकर अपने आश्रम में जा सकूँगी। आप इतने महान् हैं, यह समझ कर ही मैं उस दिन वासन्ती को लेकर आपके पास गई थी। होगा, उन सब बातों की अब आवश्यकता नहीं है। आप जानते नहीं कि आपका प्रेम प्राप्त करना साधारण नारी की साधना का....

इतना कहकर सुषमा कमरे से निकल कर चली गई। भूतत्त्व के ज्ञाता जिस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप करके पृथिवी के तल-देश तक को भेद कर उसके प्रकृत तथ्य का निर्णय कर लेते हैं, उसी तरह सन्तोष के मन में भी आया कि यदि किसी प्रकार इस पाषाणी किन्तु धरित्रीरूपिणी सुषमा के हृदय के अन्तस्तल की परीक्षा करके एक बार देख सकता ! किन्तु न जाने क्या सोच कर उसने अपनी अबाध्य इन्द्रियों को प्रबल भाव से क़ाबू में कर रक्खा। मन ही मन उसने कहा--तुम्हारा यह स्थान अक्षय हो सुषमा।

कुछ क्षण तक स्तब्धभाव से खड़ा रहने के बाद सन्तोष ने फिर कर देखा तो वासन्ती भूमि में दृष्टि गड़ाये खड़ी थी, उसके दोनों कपोल आँसुओं से भीगे हुए थे। वह मानों स्वप्न से अभिभूत थी, अपने आपको भूल-सी गई थी।

सन्तोष ने धीरे-धीरे वासन्ती के कन्धे पर अपने शिथिल हाथों को रख दिया और व्यथित कण्ठ से कहने लगा--कुछ तो कहा नहीं। अब मुझे आज्ञा दो वासन्ती, मैं चलूँगा। अब मैं तुम्हारी दृष्टि के सामने रह कर तुम्हारी यन्त्रणा न बढ़ाऊँगा--मैं ही तुम्हारी दुर्दशा का कारण हूँ।

सन्तोष बराबर कहता गया। वह कहने लगा--वासन्ती, यह मेरे निष्ठुर जीवन का सन्ध्या-काल है। अब मैं किसी अनिर्दिष्ट पथ की ओर यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए पाथेय के रूप में अपने अकृतज्ञ स्वामी को कुछ ऐसी चीज़ दो जिससे अकेले मार्ग में चलते समय अभाव की पीड़ा मेरे मन को व्यथित न कर सके। बीच-बीच में एक एक बार

मुझे तुम्हारा दिया हुआ वह पाथेय यह भी स्मरण करा दे कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है। एक दिन इसी तरह की अशुभ सन्ध्या में तुम्हारे हृदय के व्याकुल आह्वान की उपेक्षा करके दूसरे मार्ग पर गया था, आज फिर उसी तरह की सन्ध्या में तुम्हारे आह्वान के बिना ही तुम्हारे पास प्रायश्चित्त करने के लिए, क्षमा माँगने के लिए, आया हूँ। यदि तुमने मुझे क्षमा कर दिया हो तो उसके चिह्न के रूप में मुझे ऐसा कुछ दो जो मुझे इस नेत्र के अन्तिम निमेष तक उज्ज्वल ध्रुवतारा के समान स्थिर रक्खे--जिससे वह अन्त तक मुझे खींच कर ले जा सके। बोलो, समय नहीं--

स्वल्पभाषिणी, लज्जिता वासन्ती किस तरह यह बतलाती कि सुदीर्घ सात वर्ष उसने कितने व्याकुल भाव से व्यतीत किये हैं, शून्य शय्या पर पड़ी-पड़ी कितनी रातें उसने जाग कर काटी हैं और देवादिदेव के चरणों में कातर प्रार्थना करते ही करते आँसुओं से अपना तकिया भिगोया है। हाय, वासन्ती का तो सभी कुछ जा चुका है, उस बेचारी के पास आज है ही क्या, जो नूतन करके आज स्वामी को देती? उसकी सुख से शिथिल देह-रूपी लता मानों गिरती जा रही थी, वक्ष का स्पन्दन स्थिर हुआ जा रहा था, कण्ठ भाषा से वञ्चित हुआ जा रहा था, प्रबल अश्रुधारा से गण्डस्थल डूबा जा रहा था, कम्पित चरणों से लड़खड़ाती लड़खड़ाती वह सन्तोष के समीप आई और उसके चरणों पर मस्तक रख कर व्याकुल-कण्ठ से बोल उठी--आप मुझे क्षमा कीजिए। आप कहाँ जायँगे, मुझे परित्याग करके--

उत्तीर्ण सहारा के उपकण्ठ में जो शीतल निर्झर-वारि सन्तोष के पिपासित कण्ठ को आर्द्र करके उछलता आ रहा था, आज फिर वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सका।

मुझे तुम्हारा दिया हुआ वह पाथेय यह भी स्मरण करा दे कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है। एक दिन इसी तरह की अशुभ सन्ध्या में तुम्हारे हृदय के व्याकुल आह्वान की उपेक्षा करके दूसरे मार्ग पर गया था, आज फिर उसी तरह की सन्ध्या में तुम्हारे आह्वान के बिना ही तुम्हारे पास प्रायश्चित्त करने के लिए, क्षमा माँगने के लिए, आया हूँ। यदि तुमने मुझे क्षमा कर दिया हो तो उसके चिह्न के रूप में मुझे ऐसा कुछ दो जो मुझे इस नेत्र के अन्तिम निमेष तक उज्ज्वल ध्रुवतारा के समान स्थिर रक्खे--जिससे वह अन्त तक मुझे खींच कर ले जा सके। बोलो, समय नहीं--

स्वल्पभाषिणी, लज्जिता वासन्ती किस तरह यह बतलाती कि सुदीर्घ सात वर्ष उसने कितने व्याकुल भाव से व्यतीत किये हैं, शून्य शय्या पर पड़ी-पड़ी कितनी रातें उसने जाग कर काटी हैं और देवादिदेव के चरणों में कातर प्रार्थना करते ही करते आँसुओं से अपना तकिया भिगोया है। हाय, वासन्ती का तो सभी कुछ जा चुका है, उस बेचारी के पास आज है ही क्या, जो नूतन करके आज स्वामी को देती? उसकी सुख से शिथिल देह-रूपी लता मानों गिरती जा रही थी, वक्ष का स्पन्दन स्थिर हुआ जा रहा था, कण्ठ भाषा से वञ्चित हुआ जा रहा था, प्रबल अश्रुधारा से गण्डस्थल डूबा जा रहा था, कम्पित चरणों से लड़खड़ाती लड़खड़ाती वह सन्तोष के समीप आई और उसके चरणों पर मस्तक रख कर व्याकुल-कण्ठ से बोल उठी---आप मुझे क्षमा कीजिए। आप कहाँ जायँगे, मुझे परित्याग करके---

उत्तीर्ण सहारा के उपकण्ठ में जो शीतल निर्झर-वारि सन्तोष के पिपासित कण्ठ को आर्द्र करके उछलता आ रहा था, आज फिर वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सका।

5554 : 20.6.56
2708 : 23.4.58
1924 - 27-1-59
D83 / 22.4.58 3.10.59
6472 : 3-11-59
D97 / 3.7.60 15-8-60
~~6633~~ : 30-8-60